Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 31, अंक 1
जनवरी-जून, 2017

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 31, अंक 1 जनवरी–जून, 2017

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 0141–2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302019 दूरभाष 0141–2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)
Reconised by University Grant Commission

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श 5
यशदेव शल्य

2. भारतीय मानस का वि–औपनिवेशीकरण : 20
प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की कार्ययोजना
अम्बिकादत्त शर्मा

3. महिषासुर विमर्श की इतिहास–दृष्टि : शम्बुक का द्राविड़ प्राणायाम 44
अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र

4. न्यायशास्त्रीय प्रमाण–लक्षण का द्वितीय प्रस्थान : 67
जयन्त भट्ट का सामग्रीकारणतावाद
अरूण मिश्र

5. ज्ञानश्रीमित्र प्रणीत साकारसिद्धिशास्त्र 101
का प्रथम अध्याय : निराकार–निराकरण
बृजकिशोर त्रिपाठी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. *यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श *

यशदेव शल्य

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष अपने इतिहास में अनेक जातियों, सभ्यताओं या संस्कृतियों को करने पड़े हैं, किन्तु उन संघर्षों में उनके द्वारा स्वयं स्वतंत्रता को ही एक साध्य–मूल्य के रूप में देखा गया, उसमें किसी और मूल्य के निक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठा। इसी प्रकार यह प्रश्न हमारे देश के स्वतंत्रता संग्राम के क्रम में भी नहीं उठा होता। 'स्वतंत्रता अपने आप में साध्य हैं यह प्रतिज्ञप्ति इतनी स्वतः प्रमाण मानी जाती है कि जब महात्मा गाँधी ने इस साध्य के लिए अपनाये जाने वाले साधनों के भी समान रूप से उचित होने की बात की तब विवाद का विषय यही रहा कि उचित साध्य को किन्हीं भी साधनों से सिद्ध करना उचित है या कि साधनों के औचित्य का ध्यान रखना भी उतना ही आवश्यक है ? स्वयं स्वतंत्रता की साध्यता के औचित्य में तब भी किसी ने कभी संदेह व्यक्त नहीं किया। किंतु गाँधीजी ने न केवल साध्यभूत स्वतंत्रता के लिए साधनों के औचित्य को भी उतना ही आवश्यक माना जितना साध्य स्वतंत्रता को माना, बल्कि स्वयं स्वतंत्रता को भी निरपेक्ष साध्य मूल्य के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे एक सापेक्ष साध्य के रूप में ही देखा। गाँधीजी ने भारत की स्वतंत्रता को भारत की अपने स्व में प्रतिष्ठा के रूप में देखा था, जिसमें राजनीतिक पराधीनता अनेक में से केवल एक बाधक थी। स्वतंत्रता–संग्राम विषयक इस दृष्टि के द्रष्टा और इसका सर्वभावेन अनुसरण करने वाले केवल वे ही थे। इसके प्रमाण के रूप में हम रोम्यां रोलां की डायरी (17.1.1924) से एक उद्धरण देना चाहेंगे। चौरीचौरा के आन्दोलन में हिंसा हो जाने के बाद गाँधीजी द्वारा वह आन्दोलन बंद कर दिया गया था। पर रिचर्ड नामक एक अंग्रेज ने, जो अहिंसा का अन्यथा समर्थक था किन्तु उसे राजनीतिक व्यवहार का आधार बनाने के पक्ष में नहीं

** चम्पारण सत्याग्रह, की 100 वीं वर्षगांठ और भारत छोड़ो आन्दोलन की75 वीं वर्षगांठ के अवसर पर इस आलेख का पुनः स्मरण (सम्पादक)।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

था, उनसे पूछा, "मान लें कि इंग्लैंड में सशस्त्र विद्रोह भड़क उठता है और उससे आपके देश की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है, तब आप क्या करेंगे ?" गाँधी जी ने इसका उत्तर दिया, "तब मैं उस विद्रोह को रोकने का प्रयत्न करूंगा।" रोम्या रोलां इसके आगे लिखते हैं, "तब इस क्रम में तिलक से मतभेद की बात करते हुए गाँधी जी ने यह स्वीकार किया कि तिलक ने यह स्पष्टतः कहा है कि वे सत्य के ऊपर अपने देश की स्वतंत्रता को चुनेंगे जबकि वे (गाँधीजी) स्वतंत्रता के ऊपर सत्य को चुनेंगे।"[1] आगे 28 जुलाई 1924 को डायरी में वे लाला लाजपतराय के सम्बन्ध में लिखते हैं, "वे एकमात्र भारतीय राजनीतिक नेता हैं जो गाँधीजी को परामर्श देने की स्थिति में हैं और गाँधीजी जिनकी बात सुनते हैं, जो दास (चितरंजन दास) के अतिरिक्त एकमात्र प्रथम कोटि के भारतीय नेता हैं, या शायद दास से भी प्रथम हैं। किन्तु जहाँ तक मैं देख सकता हूँ, उनका मानस शुद्ध रूप से राजनीतिक स्तर पर ही क्रियाशील है। यदि उन्होंने गाँधी जी के अहिंसक प्रतिरोध के सिद्धान्त को स्वीकार किया है तो वह केवल राजनीतिक कारणों से ही किया है। लाजपतराय जेल से आने के बाद गाँधी जी के इस विचार से पूर्णतः असहमत हैं और कहते हैं कि यदि वे अपना विचार नहीं छोड़ते हैं तो उन्हें (लाजपतराय को) उनसे अलग होना पड़ेगा।" रोम्या रोलां की डायरी से ये उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि स्वतंत्रता–संग्राम में जो मूल्य–दृष्टि गाँधी जी की थी वह अन्य किसी की नहीं थी, क्योंकि तिलक और लाजपतराय को निस्संकोच रूप से महात्मा गाँधी से इतर सभी तत्कालीन राजनीतिक नेताओं का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। दूसरी ओर महात्मा गाँधी को सब समयों और देशों के राजनेताओं में एक अपवाद कहा जा सकता है। व्यक्तिगत जीवन में नितान्त असाधारण और साक्षात्कारी मूल्य–दृष्टि वाले, और उस दृष्टि के अनुसार देह से मनस् पर्यन्त अपने सत्व को ढालने वाले तो संसार के इतिहास में और भी कुछ महात्मा मिल जाएंगे, किंतु संधि, विग्रह, यान, आसन, संशय, द्वैधीभाव की आचार–नीति से परिभाषित राजनीति के सार्वजनिक जीवन को भी धर्म–दृष्टि के अनुसार ढालने वाला उनके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं मिलेगा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाँधी जी को मूर्त सत्य कहा है और उनकी तुलना महात्मा बुद्ध से की है, किन्तु सत्य–जीवन को राजनीतिक व्यवहार का भी मेरुदण्ड बनाने के कारण गाँधी जी से बुद्ध की तुलना भी नहीं की जा सकती। गाँधी–दृष्टि का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ व्यक्तिगत ही नहीं सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार को भी पूर्ण रूप से सत्य के अधीन कर देना है, जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। बुद्ध ने परमार्थान्वेषण की दृष्टि से आर्यजन और पृथग्जन में भेद किया है और व्यवहार–जगत् को पृथग्जन के लिए छोड़ दिया है। राजनीति तो व्यवहार–जगत् में भी निम्नतम स्तर पर आती है। किन्तु गाँधी जी ने व्यवहार को भी परमार्थ का विषय बना दिया।

इस आधार पर से ही महात्मा गाँधी की दृष्टि के और पक्ष भी समझे जा सकते हैं। उनके द्वारा आधुनिक यांत्रिकी का ही अस्वीकार नहीं बल्कि नागर सभ्यता मात्र का ही अस्वीकार उनकी इसी दृष्टि का अंग है। इस शताब्दी के आरम्भ में ही लिखे हिन्द–स्वराज्य के लेखों में उन्होंने यूरोपीय यांत्रिक–वैज्ञानिक सभ्यता को मूल से ही अस्वीकार किया था[2], किन्तु अक्टूबर 1945 में पं. जवाहरलाल नेहरू को लिखे एक पत्र में उन्होंने पुनः लिखा, "मेरा विश्वास है कि यदि भारत को सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी है और उसके माध्यम से संसार को भी स्वतंत्र्य–लाभ करना है[3] तब देर या सबेर इस तथ्य को स्वीकार करना अनिवार्य होगा कि लोगों का गाँवों में रहना ही उचित है, नगरों में नहीं, झोपड़ियों में रहना ही उचित है, महलों में नहीं ...।

"मेरा विश्वास है कि सत्य तथा अहिंसा के बिना मनुष्य का विनाश अनिवार्य है और सत्य तथा अहिंसा को हम ग्राम–जीवन की सरलता में ही साध सकते हैं और ग्राम–जीवन की यह सरलता सही रूप में चरखे के द्वारा और उस भाव के द्वारा ही, जिसे यह प्रतीक व्यक्त करता है, सम्भव हो सकता है।"[4]

यहाँ उस स्पष्टीकरण का उल्लेख आवश्यक है जो महात्मा गाँधी ने इसी पत्र में आगे दिया है, कि 'ग्राम' से उनका आशय वर्तमान भारतीय ग्राम से नहीं है जिसमें अशिक्षा, जहालत, अस्वास्थ्य और गंदगी है बल्कि उस कल्पना के ग्राम से है जिसमें शिक्षा, जागरूकता और स्वस्थ्य तथा स्वच्छ वातावरण होगा। इस पत्र के उत्तर में नेहरू जी ने स्वतंत्र भारत की अपनी अवधारणा लिखी। नेहरू जी की अवधारणा आधुनिक, नागर तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकीय रूप से समुन्नत और संसार के अन्य देशों के साथ कदम मिला कर चलने वाले भारत की थी। स्पष्टतः वह अवधारणा पूर्णतः व्यावहारिक थी, ऐसी जिसमें युग–परिस्थिति और मानव–स्वभाव का ध्यान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रखा गया था। निश्चय ही प्राप्त वस्तुस्थिति और प्राप्य आदर्श के बीच अन्तर की, और इस प्रकार मूल्य की बात उनके पत्र में भी थी, किन्तु वह मूल्य व्यवहार–सम्मत और इतिहास–सम्मत था, परमार्थ–सम्मत नहीं। इसी पत्र में, जैसे अन्य सब जगह भी, गाँधी जी ने 'स्वतंत्रता' शब्द के साथ 'सच्ची' विशेषण का प्रयोग भी अनिवार्य रूप से किया है और भारत की इस स्वतंत्रता को विश्व–मानव के स्वातंत्र्य का प्रवर्तक कहा है। जिसका अर्थ है कि वे भारत की केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की बात नहीं कर रहे थे बल्कि उस समग्र स्वतंत्रता की बात कर रहे थे जिसमें आत्मा की निर्मलता केन्द्रीय है, जिस स्वतंत्रता से परतंत्र भारत से भी अधिक दूसरे स्वतंत्र देश दूर थे। इसी कारण महात्मा गाँधी केवल भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के ही नायक नहीं थे, बल्कि अन्य देशों के असंख्य प्रबुद्ध लोगों के लिए भी प्रेरणा–स्रोत थे। यह इस बात से देखा जा सकता है कि रोम्या रोलां द्वारा 1922–23 में लिखी महात्मा गाँधी की जीवनी के यूरोप और रूस की प्रायः सभी भाषाओं में तुरन्त अनुवाद हो गए और उन सबके अनेक संस्करण और आवृत्तियाँ प्रकाशित हुईं। किन्तु यह भी सत्य है कि भारत में उनके राजनीतिक सहयोगियों में किसी को वह दृष्टि उपलब्ध नहीं थी, सम्भवतः अब्दुल गफ्फार खां के अतिरिक्त और न भारतीय जन–समुदाय की चेतना ही उस दृष्टि से प्रकाशित थी। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि तब भी वे भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के केवल अनेक में से एक नायक नहीं थे बल्कि एक तरह से एकमात्र नायक थे, अन्य लोग उनके सहयोगी मात्र थे। ऐसा सम्भवतः इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि उन्होंने अपने को वास्तविक भारतीय जन की आदर्श प्रतिमा में ढाला, भारत के दीन, दुःखी, दरिद्र जन ने उनमें अपने नारायणीय अवतार को पाया। यदि वे भारतीय राजनीतिक मंच पर नहीं उतरे होते तो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम का रूप केवल मध्य वर्ग के असंगठित विद्रोह का ही रहा होता, एक व्यापक और अभूतपूर्व प्रकार की जन–क्रांति का रूप उसका नहीं होता।

किन्तु यह परिस्थिति भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम को एक विरोधाभास पूर्ण भी बना देती है। गाँधी जी जबकि परमार्थ सत्य के अन्वेषी थे, जो सत्य न उनके किसी राजनीतिक सहयोगी को गम्य था और न ही भारतीय जनमानस को, तब भी वे ऐसे एकमात्र राजनीतिक नेता थे जो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के नायक थे और अन्य सब उनके पीछे चलने को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवश थे। भारतीय जनमानस के दूसरे पक्ष का, जिसे इसका लौकिक–व्यावहारिक पक्ष कहा जा सकता है, दूसरे नेता प्रतिनिधित्व कर रहे थे और इसके एक बहुत लघु किन्तु शासक वर्ग द्वारा संरक्षित और प्रवर्द्धित वर्ग का, जो विश्वविद्यालयों में शिक्षित था और जिसके आचार और विचार का परम आदर्श पश्चिम था, उसका प्रतिनिधित्व नेहरू जी कर रहे थे। किन्तु तब भी ये सब उस गाँधी के आगे विवश थे जिसमें भारत की सनातन चेतना मूर्त हुई थी और इस प्रकार जिसे नहीं समझ कर भी सब उसके पीछे चलने को विवश थे। भारतीय परिस्थिति के इस विरोधाभास को गाँधीजी जानते थे और शायद वे अकेले ही इस बात को जानते थे। इसीलिए बार–बार उस स्वतंत्रता के सम्बन्ध में देश को चेताते रहते थे जो केवल गोरे साहिबों के स्थानान्तरण के रूप में हमारे हाथ लगने वाली थी।

किन्तु तब यहाँ एक और बहुत बड़ी पहेली रह जाती है, रहस्यों का रहस्य, कि इसी पारदृष्टि वाले गाँधी जी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में उस नेहरू को ही क्यों चुना जो उनके सब सहयोगियों से अधिक यूरोपाभिभूत थे? स्वतंत्रता के बाद अपने यूरोपीय उत्तराधिकार को स्वयं नेहरू जी ने अत्यन्त सटीक रूप में और सगर्व स्वीकार करते हुए एक अमरीकी राजदूत गैल्ब्रैथ से कहा था, "मैं भारत का अन्तिम ब्रिटिश शासक हूँ।"[6] वस्तुतः वे सचमुच में वही थे और इस कारण ब्रिटिशों से कहीं अधिक घातक कि वे भारतीय खाल में थे। शायद ऐसा कहना बहुत अधिक होगा कि कहीं गहरे में महात्मा गाँधी स्वयं भी अपनी मूल्य–दृष्टि की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में संदेहशील थे। यह बात और किसी प्रकार से समझ में नहीं आती। अन्यथा उनके द्वारा सभी अर्थों में एक भूरे यूरोपीय को स्वतंत्र भारत के नेतृत्व के लिए मूर्धाभिषिक्त करने का क्या औचित्य हो सकता था ? या कि इसका कारण भारत की जन्मपत्री में कहीं खोजना चाहिए ?

II

ऊपर की चर्चा में मूल्यविषयक एक दृष्टि पूर्वगृहीत है। उस चर्चा को आधार देने के लिए उस दृष्टि को यहाँ वे स्पष्ट करना आवश्यक है। इसके लिए सर्वप्रथम मूल्य का स्वरूप समझना आवश्यक है और दूसरा, किन्तु प्रथम से अवियोज्य रूप से सम्बद्ध प्रश्न मूल्य के कर्म में निर्वाह का है।

अब, मूल्य क्या है ?साधारणतः किसी भी इच्छा–विषय अथवा प्राप्त लक्ष्य को मूल्य कहा जाता है। 'प्रत्येक व्यक्ति के अपने मूल्य होते हैं', 'मूल्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति–सापेक्ष होते हैं' ये आज बहुत प्रचलित धारणाएँ हैं और इन दोनों में यही पूर्वगृहीत है। क़िन्तु हम यह भी विमर्श करते हैं कि कौन–सा इच्छा–विषय मूल्य होने के योग्य है और कौन–सा इस योग्य नहीं है। यों योग्यता का यह प्रश्न मूल्य को इच्छा से पृथक् कर एक वस्तुनिष्ठ सन्दर्भ दे देता है किन्तु तब भी ये सन्दर्भ देश, काल, पात्र की सापेक्षता ले लेते हैं। 'आज मूल्यों में परिवर्तन हो रहा है' इस कथन में देश–काल–संदर्भ की सापेक्षता में रुचियों और विचारों को 'मूल्य' पद के वाचक के रूप में देखा जा रहा है। मूल्य–विषयक इस दृष्टि को स्वीकार करने पर मनुष्य के साध्य के निर्णय में तटस्थ विचार और विवेक का कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु यह नहीं रहने पर मूल्य–विमर्श की बात करना ही निरर्थक हो जाता है और न तब उचित–अनुचित का ही कोई अर्थ रह जाता है। यों आज एक बहुत बड़ा दार्शनिक समुदाय है, और आज का बहुमत उसी का अनुयायी है, जो साध्य–निर्णय या उचित–अनुचित–विवेक का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं मानता। किन्तु हमारा विश्वास है कि 'उन्मीलन' पत्रिका के सुधी जन अधिकांश पाठक उस समुदाय के भाग नहीं हैं, अथवा यह चर्चा यहीं बन्द कर देनी पड़ती, क्योंकि यहाँ इस मूल प्रश्न पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता कि मूल्य कैसे वस्तुनिष्ठ विमर्श के विषय हैं।[7] सो, यहाँ हम इस सम्बन्ध में उन्मीलन के पाठकों से सहमति मान कर 'मूल्य' को परिभाषित करने का प्रयत्न करेंगे। यह परिभाषा हो सकती हैं "आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता की सिद्धि"। किन्तु इस पर आपत्ति हो सकती है कि इस परिभाषा को सर्वसम्मत मान कर भी विवाद वहीं का वहीं रह जाता है, क्योंकि तब विवाद का विषय आत्मा का स्वरूप हो जाता है। सर्वप्रथम तो आज आत्मा की बात करना ही आदिम, या मध्ययुगीन, या असैक्युलर मनोवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है, किन्तु इस आक्षेप को छोड़ भी दिया जाय तो 'आत्मा' तो पुत्र–कलत्र, देह, इन्द्रिय, भाव, विचार से लेकर ब्रह्म तक कुछ भी हो सकता है। जिससे भी आप अपना तादात्म्य स्थापित कर लें वही आत्मा है। अधिकांश में हमारा आत्मा हमारी देह और इन्द्रियाँ ही रहती हैं, अधिक ऊपर उठें तो भाव और विचार हमारे आत्मा–स्थानीय हो जाते हैं। किन्तु बहुतों को कभी, किन्हीं स्थितियों में, इनमें आत्मा के परत्व की झलक भी दृष्टिगोचर होती है, स्वयं आत्मा के अपने स्वरूप की झलक चाहे नहीं भी गोचर होती हो। किन्तु हम इस झलक पर अपना भाव अल्प

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काल के लिए भी स्थिर कर आत्मा के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त नहीं हो पाते। जो इस परत्व से मुक्ति का निरन्तर अनुसन्धान करते हैं उन्हीं को हम महात्मा कहते हैं। महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण जीवन इसका अनन्य–साधारण उदाहरण है। सामाजिक आदर्श के रूप में उनकी ग्राम–समाज की दृष्टि, भारत की स्वाधीनता के ऊपर सत्य की प्रतिष्ठा उनके इसी आत्म और अनात्म के तत्त्व–बोध से प्रेरित थी। उनका 'ग्राम–जीवन' से अर्थ इसी 'परत्व या अनात्म से मुक्त जीवन' से और 'सत्य' से अर्थ इसी 'आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता' से था, जैसा कि उनके 'सत्य' और 'ईश्वर' को पर्यायवाची शब्द कहने से स्पष्ट है। 'सत्य' का साधारण अर्थ है 'कथन का कथ्य के अनुरूप होना।' किन्तु जब 'सत्य' को 'ईश्वर' के पर्यायवाची के रूप में देखा जाता है तब उसका एक ही अर्थ हो सकता है – आत्मा का अपने स्वरूप के अनुरूप होना। अब 'सत्य' का यह अर्थ होने पर देश की स्वतंत्रता सत्य के ऊपर कैसे प्रतिष्ठा पा सकती है ?क्योंकि सत्य को नकार कर तो स्वतंत्रता ही नकारी जाएगी – यदि स्वतंत्रता 'स्व की अपने तंत्र में प्रतिष्ठा, स्व की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा' है तो ! अब, गाँधी जी के इस कथन की एक प्राचीन श्लोक में प्रतिध्वनि देखें –

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्,
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे सर्वं त्यजेत्।

वास्तव में यदि हम देश की स्वतंत्रता को सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित कर देंगे तो किसी भी तर्क से देश की स्वतंत्रता को अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। इसलिए, जब हम देश को अपने से ऊपर रखने की श्रेष्ठता की बात करते हैं तब सत्य के तर्क को केवल अंशतः ही देखते हैं, क्योंकि तब देश भी एक विस्तृततर स्वार्थ, विस्तृततर अहंकार ही हो जाता है। गाँधी जी की यही दृष्टि नागर जीवन में परोन्मुखता और ग्राम–जीवन में परत्व से निवृत्ति देखने के पीछे भी थी। नेहरू जी ने अपने पत्र में इसके विरुद्ध ग्रामजीवन में चेतना और संस्कृति के अविकसित रहने की और नागर जीवन में इसके विकास–लाभ करने की बात कही है। जिसका अर्थ है कि वे साहित्य, संगीत, विज्ञान और शास्त्र में और उससे भी अधिक प्रौद्योगिकी और व्यापार में आत्मा का स्वरूप–लाभ देखते हैं। नेहरू जी को छोड़ते हुए, यहाँ मूल्य–विषयक इन दो दृष्टियों की बात की जा सकती है और कहा जा सकता है कि गाँधी–दृष्टि जबकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत्प्रवृत्ति में आत्मा की अपने स्वरूप से विमुखता देखती है, नेहरू–दृष्टि जगत् ही में आत्मा का आत्मचरितार्थन देखती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति वास्तव में इस दूसरी दृष्टि की ही अनुसारी है और यह भी सही है कि सभ्यताओं और संस्कृतियों का विकास इस दूसरी दृष्टि से ही हो सकता है। इसमें पुरुषार्थ भी है – अर्थ और काम–मूलक अर्थों में आत्मा का अनुसन्धान। किन्तु जैसा कि गाँधी जी ने देखा, इसमें हिंसा और असत्य से मुक्ति नहीं है, बल्कि इनका आश्रय इस विकास के लिए अनिवार्य–सा ही है। अपने इस पत्र के अन्त में नेहरू जी ने इसे स्वीकार भी किया है। वे कहते हैं, "आपका यह कहना सही है कि मनुष्य–जगत् अथवा इसका बहुत बड़ा भाग, आत्महत्या पर उतारू है। यह सभ्यता की भूमि में आ पड़े किसी विषबीज के अंकुरित और पल्लवित हो जाने का अनिवार्य परिणाम हो सकता है। हमारा प्रयत्न इसके घातक परिणामों से बचने का होना चाहिए।" किन्तु इन परिणामों से हम और संसार की दूसरी सभ्यताएँ कहाँ तक बच पायी हैं और इनके बचने की क्या सम्भावनाएँ हैं, यह हम देख ही रहे हैं। स्वयं नेहरू जी ने इस विष–बीज के सम्बन्ध में जानते हुए भी इससे बचने के लिए कुछ करना तो दूर इसके प्रभाव को कम करने के लिए भी कोई प्रयत्न नहीं किया। या कि यह इस सभ्यता के विकास की गति का ही अनिवार्य तर्क है कि इससे बचना असम्भव है, अन्यथा नेहरू जी की सदाशयता में तो किसी को संदेह नहीं हो सकता।

III

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने जो देखा वह ऐसा कुछ नहीं था जो पहले किसी ने नहीं देखा था। वास्तव में हमारे यहाँ कलियुग की कल्पना के रूप में यह दृष्टि स्पष्ट विद्यमान थी, सम्राट् अशोक में राजनीति को सत्य और अहिंसा में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि भी दिखायी देती है, किन्तु सत्य और अहिंसा से सम्पूर्ण जनमानस का इस्पातीकरण और गोलियों का मुकाबला खाली छाती से करना और उसे युद्ध–कौशल[5] का रूप दे देना, यह इस देश को और इस देश के माध्यम से सम्पूर्ण संसार को सतयुग में लौटा ले चलने का ऐसा हठ था जिसमें गाँधी–दृष्टि की अपूर्वता थी। वे इसमें बुरी तरह असफल रहे, यह हम देख ही सकते हैं, यद्यपि यह सही है कि यदि स्वतंत्रता के अवसर पर देश की बागडोर नेहरू जी के बजाय सुभाष या पटेल जैसे किसी व्यक्ति के हाथ में आयी होती तो सम्भव है हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस अनिवार्य असफलता के बावजूद इतने गहरे और इतने गंदे गर्त में नहीं गिरे होते जिसमें हम नेहरू जी के कारण गिरे। नेहरू जी के कारण हम अतिरिक्त गहराई में गिरे, इसका कारण हमारा जातीय स्वभाव को छोड़कर परभाव का अनुकरण था। दूसरे, नेहरू जी ने भाखड़ा–नंगल और सिंद्री आदि परियोजनाओं को मंदिर ही घोषित कर दिया और इस प्रकार केवल अर्थ और काम को ही, धर्म और मोक्ष से नितांत विमुखता के साथ, हमारा पुरुषार्थ बना दिया। निश्चय ही इसमें केवल नेहरू जी को दोष देना अनुचित होगा, क्योंकि नेहरू जी दूसरों के सहयोग के बिना और देश के उस वर्ग के सहयोग के बिना जो वर्ग शक्तिपीठों के निकट था, अकेले ही यह नहीं कर सकते थे। किंतु वे देश में कलियुग के कुरूपतम रूप के अवतरण में नायक अवश्य बने। उदाहरणतः उन्होंने हमारी चेतना का जिस प्रकार पश्चिमीकरण और लोकायतीकरण किया, उन्होंने जिस प्रकार शिक्षा–क्षेत्र की उपेक्षा की, वह सब उन्हीं की विशिष्ट देन है।

ऊपर उद्धृत पत्र में नेहरू जी ने गाँधी जी के ग्राम–आधारित समाज के विचार का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा, "मुझे यह बात समझ में नहीं आयी कि क्यों सत्य और अहिंसा का वास ग्राम में ही सम्भव है। साधारणतः ग्राम बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े ही होते हैं और एक पिछड़े हुए वातावरण में प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। संकुचित मानसिकता वाले लोगों के असत्य और हिंसा–परायण होने की सम्भावना अधिक होती है।"... पत्र में आगे उन्होंने आज के युग में किसी देश के सांस्कृतिक रूप से (और सत्य में प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी (?)) उन्नत होने के लिए उसका तकनीकीय और वैज्ञानिक दृष्टि से उन्नत होना आवश्यक बताया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नेहरू जी भी कोई नयी बात नहीं कर रहे थे। सभ्यताओं के इतिहास के सभी आधुनिक लेखक सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए नागरता को अनिवार्य मानते हैं और यह भी देखा जा सकता है कि हमारा सम्पूर्ण शिक्षित वर्ग 'वैज्ञानिक' शब्द को युक्ति–सम्मतता और सांस्कृतिकता का पर्याय मानता है और तकनीकी विकास को 'प्रगति' का पर्यायवाची मानता है। यों पुराकाल में भी 'ग्राम्य' शब्द का प्रयोग 'मूढ़' के पर्यायवाची के रूप में होता था और 'नागर' शब्द का 'परिष्कृत' के पर्यायवाची के रूप में। किन्तु विचार की इस दिशा में यह भुला दिया जाता है कि न वेद और उपनिषद् नागर सभ्यता की देन थे और न कबीर, नानक,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तुलसी और सूर आदि ही नागर सभ्यता की देन थे। सुकरात और प्लेटो के होने के लिए भी नागर सभ्यता अनिवार्य नहीं थी। गाँधीजी जब सत्य और अहिंसा–परायण समाज के लिए ग्राम की बात करते हैं तब उनकी दृष्टि में ऐसा ही अन्तःप्रकाशित समाज है, इसी से वे 'कल्पना के ग्राम' की बात करते हैं, तत्कालीन अविकसित ग्राम की नहीं। निश्चय ही भारत में सभ्यता का विकास तो मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य में ही हुआ, किन्तु वह हिंसा और अन्य लोक–साधारण उपायों से ही हुआ और सत्य वहाँ ब्राह्मणों के माध्यम से ही चरितार्थ किया गया। दर्शन, शास्त्र, कला और शिल्प का विकास ऐसे साम्राज्यों में ही विशेष हुआ। आत्मा को पाने की यह भी एक दिशा है, इसी दिशा में आगे विज्ञान और तकनीकी भी आते हैं, केवल इस अन्तर के साथ कि इनमें आकर आत्मा प्रायः पूर्णतः देह और इन्द्रियों से तदात्म हो जाती है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि सभ्यता के नागर विकास के बिना आभ्यन्तर अर्थों के विकास की सम्भावना चरितार्थ हो ही, यह आवश्यक नहीं है, उससे भी अधिक सम्भावना इस बात की रहती है कि बाह्यार्थों के विकास से वंचित जन आन्तर अर्थों के विकास से भी वंचित रहें। अधिकांश विकसित संस्कृतियों में ग्राम इसी अविकास के उदाहरण हैं, स्वयं हमारे देश में भी 'ग्राम्य' शब्द इसी बात की ओर संकेत करता है। इसी से जब गाँधी जी ने ग्राम की बात की तब उस ग्राम की बात नहीं की जो हमारे देश में उपलब्ध था बल्कि 'कल्पना के ग्राम' की बात की, उस ग्राम की जिसमें मनुष्य बाह्यार्थों के अन्वेषण में अपनी चरितार्थता नहीं देखता बल्कि आंतरिक अर्थों के अन्वेषण में देखता है।

IV

किन्तु तब यहाँ अनेक व्यावहारिक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। सबसे पहला और प्रमुख प्रश्न तो यही है कि ऐसा समाज उन दूसरे समाजों से अपनी रक्षा कैसे कर पायेगा जो बाह्यतः समृद्ध और इस प्रकार शक्तिशाली हैं, अथवा जो भीतर–बाहर दोनों ओर से विपन्न हैं किन्तु आसुरी शक्ति से सम्पन्न हैं ?अतीत में संस्कृति में समुन्नत प्रायः सभी जातियाँ उन बाह्य आक्रान्ताओं से परास्त होती रही हैं जो सांस्कृतिक रूप से अविकसित थे। हमारा देश तो इसका ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है। आज तो परिस्थिति और भी विकट है, आज सारा संसार यातायात और सम्प्रेषण–यंत्रों के चामत्कारिक विकास से बहुत कुछ एक समाज और एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाजार जैसा हो गया है, जो समाज और बाजार केवल जंगल के नियमों से नियन्त्रित है। गाँधी जी का सपना था कि भारत में ग्राम–समाज के रूप में एक वास्तविक मानवीय सभ्यता की प्रतिष्ठा कर सकेंगे और उसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व में उस सभ्यता का प्रवर्त्तन कर सकेंगे। किन्तु वे अपनी इस सोच में वास्तविकता से बहुत दूर थे। पाश्चात्य सभ्यता में जो विष–बीज यांत्रिकी–प्रौद्योगिकी के रूप में अंकुरित हो गया था और गाँधी जी ने जिसके फलों के रूप–गुण का सम्यक् रूप से अनुमान कर लिया था उसे जड़ से ही उखाड़ने का उपाय तो वही था जो गाँधी जी करना चाहते थे, किन्तु वह उपाय नितान्त अव्यावहारिक था। क्योंकि मनुष्य की जो प्रकृति है उसके रहते, और संसार की जो तत्कालीन परिस्थिति थी उसके रहते, इतिहास की गति को ग्राम–सभ्यता की दिशा में आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। यदि किसी प्रकार हम अपने देश में वैसा करने में सफल हो भी पाते तो अन्य देशों में वह कर पाना सम्भव नहीं था और उसके बिना हमारे देश में भी वह टिका नहीं रह सकता था। इसके अतिरिक्त, मानव–प्रकृति के वैसा रहते जैसी वह है, हमारे देश में भी उसकी स्थायिता सम्भव नहीं थी। अतीत में मनुष्य को अपने स्वरूप की ओर उन्मुख करने के अनेक प्रयत्न हुए और मानवसमाज ऐसे मार्गदर्शकों की प्रेरणा से उस दिशा में उन्मुख होता भी रहा, किन्तु प्रेरणा–स्रोत के हट जाने के बाद वह पुनः अपनी पहली दशा में ही लौट आता रहा। गाँधी जी के तो अपने जीवनकाल में ही उनके कम से कम राजनीतिक सहयोगियों ने ही उनकी मूल्य–दृष्टि को स्वीकार नहीं किया और उनके स्वयं के द्वारा चुने गए उत्तराधिकारी ने उन्हें सबसे अधिक मूलगामी रूप में अस्वीकार किया। ऐसे में उन विषाक्त फलों का फलना तो स्वाभाविक ही था जो फले, और हमारा उस अंधे कुएँ में गिरना भी अनिवार्य था जिसमें आज हम आ पड़े हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारा इस गर्त में गिरना हमारी अनिवार्य नियति थी। ग्राम–समाज की ओर यथावत् अग्रसर होना सम्भव नहीं होने पर भी हम उस मूल्य–दृष्टि को अपना आदर्श रख सकते थे। आखिर महात्मा गाँधी भारत में इसी युग में हुए थे और वे केवल एक व्यक्ति ही नहीं थे बल्कि उस तत्त्व के एक द्रष्टा भी थे जो सनातन भारत का तत्त्व है। इसी युग में वह तत्त्व रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, श्री अरविन्द आदि अन्य अनेक महात्माओं में भी उपाधि–भेद से भास्वर देखा जा सकता है। गाँधीजी उसी तत्त्व की एक व्यापकतर अभिव्यक्ति थे। गाँधीजी ने उस तत्त्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को जो राजनीतिक सन्दर्भ में व्यवहार का रूप दिया उसी में उनका अद्‌भुत नावीन्य और सृजनात्मकता थी, अन्यथा तो वह सनातन भारत का ही तत्त्व था। जैसा कि हमने पीछे कहा, इस तत्त्व के इस रूप के काल–भेद से भिन्न लक्षण सम्राट् अशोक में भी देखे जा सकते हैं। यदि व्यवहार के अनुरोध से उस तत्त्व की गाँधी–दृष्टि में कुछ संशोधन की आवश्यकता थी तो उसमें यथोचित संशोधन करना उनके उत्तराधिकारियों का काम था। यों स्वयं गाँधी जी ही अपनी दृष्टि के व्यवहार में निरन्तर संशोधन करते रहे थे। उदाहरणतः वे क्रमशः यंत्रों को उस सीमा तक स्वीकार करने को राजी थे जिस सीमा तक वे मनुष्य के उपकरण रहें। जिस सीमा के आगे मनुष्य उनका उपकरण होने लगे केवल वहाँ ही वे उन्हें स्वीकृति देने को राजी नहीं थे। यों भी आखिर किसी यंत्र का विरोध कैसे हो सकता है ? विरोध तो उस अभिवृत्ति या मानसिकता का ही हो सकता है जो इन यंत्रों के साथ आती है। यंत्र आत्मा का ही बाह्यार्थ है। देहात्म के अनुरोध के बाह्यार्थों में आत्मा का विस्तार यंत्रों की दिशा में होना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। आखिर आत्मा एक से अनेक भी अपने बाह्याक्षेप से ही हुआ और इससे इस जगत् का आविर्भाव हुआ। किंतु यह आत्मा बाह्य अर्थों में अपनी सम्पन्नता का लाभ करे, अपने को चरितार्थ करे, यह तो प्रेय का श्रेयात्मक रूप हो सकता है, किंतु बाह्य अर्थों में आत्मा आत्मविमुख होने लगे और इस प्रकार विपन्न हो जाये, यह भयावह है। यदि हम इस खतरे को सम्यक् रूप से समझ कर यंत्र को बाह्य जीवन की बाध्यताओं के रूप में अपनाते तब इस विमुखता से बहुत कुछ बच सकते थे। किंतु हमने राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ आत्मा का उद्धार आत्मवैमुख्य में ही देखा। इसी का यह परिणाम है कि हम आज सुन्द और उपसुन्द के वंशजों जैसे हो रहे हैं, ऋषियों के या राम के वंशजों जैसे नहीं। दूसरी आधारभूत बात यह है कि आज हम उस सनातन भारत को ही अस्वीकार कर रहे हैं, गाँधी जी ने जिसका साक्षात्कार किया था और जो अन्तःसलिला के समान हमारे जातीय जीवन को सौ संकटों के बीच भी बचाये हुए है। उसे हम साम्प्रदायिकता–धर्मांधता आदि कह रहे हैं और यह केवल अज्ञानवश नहीं बल्कि स्वार्थ और झूठ के वश ही कह रहे हैं, इस कारण हमारी चेतना के और गहरे अंध तमस से आवृत्त होने की आशंका होती है। तीसरी, और भी भयानक बात यह है कि किसी भी मनुष्य के आत्म–लाभ के लिए या व्यक्ति होने के लिए जो पहली शर्त है – आत्मसम्मान, निज के धर्म–स्वभाव में प्रतिष्ठा, अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 31, अंक 1 जनवरी–जून, 2017

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान–सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा,** सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. **यशदेव शल्य,** पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 0141–2707493
2. **मुकुन्द लाठ,** ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302019 दूरभाष 0141–2294727/2293725

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)
Reconised by University Grant Commission

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि ''प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन'' के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श 5
यशदेव शल्य

2. भारतीय मानस का वि–औपनिवेशीकरण : 20
प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की कार्ययोजना
अम्बिकादत्त शर्मा

3. महिषासुर विमर्श की इतिहास–दृष्टि : शम्बुक का 44
द्राविड़ प्राणायाम
अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र

4. न्यायशास्त्रीय प्रमाण–लक्षण का द्वितीय प्रस्थान : 67
जयन्त भट्ट का सामग्रीकारणतावाद
अरुण मिश्र

5. ज्ञानश्रीमित्र प्रणीत साकारसिद्धिशास्त्र 101
का प्रथम अध्याय : निराकार–निराकरण
बृजकिशोर त्रिपाठी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. *यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श *

यशदेव शल्य

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष अपने इतिहास में अनेक जातियों, सभ्यताओं या संस्कृतियों को करने पड़े हैं, किन्तु उन संघर्षों में उनके द्वारा स्वयं स्वतंत्रता को ही एक साध्य–मूल्य के रूप में देखा गया, उसमें किसी और मूल्य के निक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठा। इसी प्रकार यह प्रश्न हमारे देश के स्वतंत्रता संग्राम के क्रम में भी नहीं उठा होता। 'स्वतंत्रता अपने आप में साध्य हैं यह प्रतिज्ञप्ति इतनी स्वतः प्रमाण मानी जाती है कि जब महात्मा गाँधी ने इस साध्य के लिए अपनाये जाने वाले साधनों के भी समान रूप से उचित होने की बात की तब विवाद का विषय यही रहा कि उचित साध्य को किन्हीं भी साधनों से सिद्ध करना उचित है या कि साधनों के औचित्य का ध्यान रखना भी उतना ही आवश्यक है ? स्वयं स्वतंत्रता की साध्यता के औचित्य में तब भी किसी ने कभी संदेह व्यक्त नहीं किया। किंतु गाँधीजी ने न केवल साध्यभूत स्वतंत्रता के लिए साधनों के औचित्य को भी उतना ही आवश्यक माना जितना साध्य स्वतंत्रता को माना, बल्कि स्वयं स्वतंत्रता को भी निरपेक्ष साध्य मूल्य के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे एक सापेक्ष साध्य के रूप में ही देखा। गाँधीजी ने भारत की स्वतंत्रता को भारत की अपने स्व में प्रतिष्ठा के रूप में देखा था, जिसमें राजनीतिक पराधीनता अनेक में से केवल एक बाधक थी। स्वतंत्रता–संग्राम विषयक इस दृष्टि के द्रष्टा और इसका सर्वभावेन अनुसरण करने वाले केवल वे ही थे। इसके प्रमाण के रूप में हम रोम्यां रोलां की डायरी (17.1.1924) से एक उद्धरण देना चाहेंगे। चौरीचौरा के आन्दोलन में हिंसा हो जाने के बाद गाँधीजी द्वारा वह आन्दोलन बंद कर दिया गया था। पर रिचर्ड नामक एक अंग्रेज ने, जो अहिंसा का अन्यथा समर्थक था किन्तु उसे राजनीतिक व्यवहार का आधार बनाने के पक्ष में नहीं

** चम्पारण सत्याग्रह, की 100 वीं वर्षगांठ और भारत छोड़ो आन्दोलन की75 वीं वर्षगांठ के अवसर पर इस आलेख का पुनः स्मरण (सम्पादक)।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

था, उनसे पूछा, "मान लें कि इंग्लैंड में सशस्त्र विद्रोह भड़क उठता है और उससे आपके देश की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है, तब आप क्या करेंगे ?" गाँधी जी ने इसका उत्तर दिया, "तब मैं उस विद्रोह को रोकने का प्रयत्न करूंगा।" रोम्या रोलां इसके आगे लिखते हैं, "तब इस क्रम में तिलक से मतभेद की बात करते हुए गाँधी जी ने यह स्वीकार किया कि तिलक ने यह स्पष्टतः कहा है कि वे सत्य के ऊपर अपने देश की स्वतंत्रता को चुनेंगे जबकि वे (गाँधीजी) स्वतंत्रता के ऊपर सत्य को चुनेंगे।"[1] आगे 28 जुलाई 1924 को डायरी में वे लाला लाजपतराय के सम्बन्ध में लिखते हैं, "वे एकमात्र भारतीय राजनीतिक नेता हैं जो गाँधीजी को परामर्श देने की स्थिति में हैं और गाँधीजी जिनकी बात सुनते हैं, जो दास (चितरंजन दास) के अतिरिक्त एकमात्र प्रथम कोटि के भारतीय नेता हैं, या शायद दास से भी प्रथम हैं। किन्तु जहाँ तक मैं देख सकता हूँ, उनका मानस शुद्ध रूप से राजनीतिक स्तर पर ही क्रियाशील है। यदि उन्होंने गाँधी जी के अहिंसक प्रतिरोध के सिद्धान्त को स्वीकार किया है तो वह केवल राजनीतिक कारणों से ही किया है। लाजपतराय जेल से आने के बाद गाँधी जी के इस विचार से पूर्णतः असहमत हैं और कहते हैं कि यदि वे अपना विचार नहीं छोड़ते हैं तो उन्हें (लाजपतराय को) उनसे अलग होना पड़ेगा।" रोम्या रोलां की डायरी से ये उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि स्वतंत्रता–संग्राम में जो मूल्य–दृष्टि गाँधी जी की थी वह अन्य किसी की नहीं थी, क्योंकि तिलक और लाजपतराय को निस्संकोच रूप से महात्मा गाँधी से इतर सभी तत्कालीन राजनीतिक नेताओं का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। दूसरी ओर महात्मा गाँधी को सब समयों और देशों के राजनेताओं में एक अपवाद कहा जा सकता है। व्यक्तिगत जीवन में नितान्त असाधारण और साक्षात्कारी मूल्य–दृष्टि वाले, और उस दृष्टि के अनुसार देह से मनस् पर्यन्त अपने सत्व को ढालने वाले तो संसार के इतिहास में और भी कुछ महात्मा मिल जाएंगे, किंतु संधि, विग्रह, यान, आसन, संशय, द्वैधीभाव की आचार–नीति से परिभाषित राजनीति के सार्वजनिक जीवन को भी धर्म–दृष्टि के अनुसार ढालने वाला उनके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं मिलेगा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाँधी जी को मूर्त सत्य कहा है और उनकी तुलना महात्मा बुद्ध से की है, किन्तु सत्य–जीवन को राजनीतिक व्यवहार का भी मेरुदण्ड बनाने के कारण गाँधी जी से बुद्ध की तुलना भी नहीं की जा सकती। गाँधी–दृष्टि का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ व्यक्तिगत ही नहीं सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार को भी पूर्ण रूप से सत्य के अधीन कर देना है, जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। बुद्ध ने परमार्थान्वेषण की दृष्टि से आर्यजन और पृथग्जन में भेद किया है और व्यवहार–जगत् को पृथग्जन के लिए छोड़ दिया है। राजनीति तो व्यवहार–जगत् में भी निम्नतम स्तर पर आती है। किन्तु गाँधी जी ने व्यवहार को भी परमार्थ का विषय बना दिया।

इस आधार पर से ही महात्मा गाँधी की दृष्टि के और पक्ष भी समझे जा सकते हैं। उनके द्वारा आधुनिक यांत्रिकी का ही अस्वीकार नहीं बल्कि नागर सभ्यता मात्र का ही अस्वीकार उनकी इसी दृष्टि का अंग है। इस शताब्दी के आरम्भ में ही लिखे हिन्द–स्वराज्य के लेखों में उन्होंने यूरोपीय यांत्रिक–वैज्ञानिक सभ्यता को मूल से ही अस्वीकार किया था[2], किन्तु अक्टूबर 1945 में पं. जवाहरलाल नेहरू को लिखे एक पत्र में उन्होंने पुनः लिखा, "मेरा विश्वास है कि यदि भारत को सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी है और उसके माध्यम से संसार को भी स्वतंत्र्य–लाभ करना है[3] तब देर या सबेर इस तथ्य को स्वीकार करना अनिवार्य होगा कि लोगों का गाँवों में रहना ही उचित है, नगरों में नहीं, झोपड़ियों में रहना ही उचित है, महलों में नहीं ...।

"मेरा विश्वास है कि सत्य तथा अहिंसा के बिना मनुष्य का विनाश अनिवार्य है और सत्य तथा अहिंसा को हम ग्राम–जीवन की सरलता में ही साध सकते हैं और ग्राम–जीवन की यह सरलता सही रूप में चरखे के द्वारा और उस भाव के द्वारा ही, जिसे यह प्रतीक व्यक्त करता है, सम्भव हो सकता है।"[4]

यहाँ उस स्पष्टीकरण का उल्लेख आवश्यक है जो महात्मा गाँधी ने इसी पत्र में आगे दिया है, कि 'ग्राम' से उनका आशय वर्तमान भारतीय ग्राम से नहीं है जिसमें अशिक्षा, जहालत, अस्वास्थ्य और गंदगी है बल्कि उस कल्पना के ग्राम से है जिसमें शिक्षा, जागरूकता और स्वस्थ्य तथा स्वच्छ वातावरण होगा। इस पत्र के उत्तर में नेहरू जी ने स्वतंत्र भारत की अपनी अवधारणा लिखी। नेहरू जी की अवधारणा आधुनिक, नागर तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकीय रूप से समुन्नत और संसार के अन्य देशों के साथ कदम मिला कर चलने वाले भारत की थी। स्पष्टतः वह अवधारणा पूर्णतः व्यावहारिक थी, ऐसी जिसमें युग–परिस्थिति और मानव–स्वभाव का ध्यान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रखा गया था। निश्चय ही प्राप्त वस्तुस्थिति और प्राप्य आदर्श के बीच अन्तर की, और इस प्रकार मूल्य की बात उनके पत्र में भी थी, किन्तु वह मूल्य व्यवहार–सम्मत और इतिहास–सम्मत था, परमार्थ–सम्मत नहीं। इसी पत्र में, जैसे अन्य सब जगह भी, गाँधी जी ने 'स्वतंत्रता' शब्द के साथ 'सच्ची' विशेषण का प्रयोग भी अनिवार्य रूप से किया है और भारत की इस स्वतंत्रता को विश्व–मानव के स्वातंत्र्य का प्रवर्तक कहा है। जिसका अर्थ है कि वे भारत की केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की बात नहीं कर रहे थे बल्कि उस समग्र स्वतंत्रता की बात कर रहे थे जिसमें आत्मा की निर्मलता केन्द्रीय है, जिस स्वतंत्रता से परतंत्र भारत से भी अधिक दूसरे स्वतंत्र देश दूर थे। इसी कारण महात्मा गाँधी केवल भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के ही नायक नहीं थे, बल्कि अन्य देशों के असंख्य प्रबुद्ध लोगों के लिए भी प्रेरणा–स्रोत थे। यह इस बात से देखा जा सकता है कि रोम्या रोलां द्वारा 1922–23 में लिखी महात्मा गाँधी की जीवनी के यूरोप और रूस की प्रायः सभी भाषाओं में तुरन्त अनुवाद हो गए और उन सबके अनेक संस्करण और आवृत्तियाँ प्रकाशित हुईं। किन्तु यह भी सत्य है कि भारत में उनके राजनीतिक सहयोगियों में किसी को वह दृष्टि उपलब्ध नहीं थी, सम्भवतः अब्दुल गफ्फार खां के अतिरिक्त और न भारतीय जन–समुदाय की चेतना ही उस दृष्टि से प्रकाशित थी। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि तब भी वे भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के केवल अनेक में से एक नायक नहीं थे बल्कि एक तरह से एकमात्र नायक थे, अन्य लोग उनके सहयोगी मात्र थे। ऐसा सम्भवतः इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि उन्होंने अपने को वास्तविक भारतीय जन की आदर्श प्रतिमा में ढाला, भारत के दीन, दुःखी, दरिद्र जन ने उनमें अपने नारायणीय अवतार को पाया। यदि वे भारतीय राजनीतिक मंच पर नहीं उतरे होते तो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम का रूप केवल मध्य वर्ग के असंगठित विद्रोह का ही रहा होता, एक व्यापक और अभूतपूर्व प्रकार की जन–क्रांति का रूप उसका नहीं होता।

किन्तु यह परिस्थिति भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम को एक विरोधाभास पूर्ण भी बना देती है। गाँधी जी जबकि परमार्थ सत्य के अन्वेषी थे, जो सत्य न उनके किसी राजनीतिक सहयोगी को गम्य था और न ही भारतीय जनमानस को, तब भी वे ऐसे एकमात्र राजनीतिक नेता थे जो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के नायक थे और अन्य सब उनके पीछे चलने को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवश थे। भारतीय जनमानस के दूसरे पक्ष का, जिसे इसका लौकिक–व्यावहारिक पक्ष कहा जा सकता है, दूसरे नेता प्रतिनिधित्व कर रहे थे और इसके एक बहुत लघु किन्तु शासक वर्ग द्वारा संरक्षित और प्रवर्द्धित वर्ग का, जो विश्वविद्यालयों में शिक्षित था और जिसके आचार और विचार का परम आदर्श पश्चिम था, उसका प्रतिनिधित्व नेहरू जी कर रहे थे। किन्तु तब भी ये सब उस गाँधी के आगे विवश थे जिसमें भारत की सनातन चेतना मूर्त हुई थी और इस प्रकार जिसे नहीं समझ कर भी सब उसके पीछे चलने को विवश थे। भारतीय परिस्थिति के इस विरोधाभास को गाँधीजी जानते थे और शायद वे अकेले ही इस बात को जानते थे। इसीलिए बार–बार उस स्वतंत्रता के सम्बन्ध में देश को चेताते रहते थे जो केवल गोरे साहिबों के स्थानान्तरण के रूप में हमारे हाथ लगने वाली थी।

किन्तु तब यहाँ एक और बहुत बड़ी पहेली रह जाती है, रहस्यों का रहस्य, कि इसी पारदृष्टि वाले गाँधी जी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में उस नेहरू को ही क्यों चुना[5] जो उनके सब सहयोगियों से अधिक यूरोपाभिभूत थे? स्वतंत्रता के बाद अपने यूरोपीय उत्तराधिकार को स्वयं नेहरू जी ने अत्यन्त सटीक रूप में और सगर्व स्वीकार करते हुए एक अमरीकी राजदूत गैल्ब्रैथ से कहा था, "मैं भारत का अन्तिम ब्रिटिश शासक हूँ।"[6] वस्तुतः वे सचमुच में वही थे और इस कारण ब्रिटिशों से कहीं अधिक घातक कि वे भारतीय खाल में थे। शायद ऐसा कहना बहुत अधिक होगा कि कहीं गहरे में महात्मा गाँधी स्वयं भी अपनी मूल्य–दृष्टि की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में संदेहशील थे। यह बात और किसी प्रकार से समझ में नहीं आती। अन्यथा उनके द्वारा सभी अर्थों में एक भूरे यूरोपीय को स्वतंत्र भारत के नेतृत्व के लिए मूर्धाभिषिक्त करने का क्या औचित्य हो सकता था ? या कि इसका कारण भारत की जन्मपत्री में कहीं खोजना चाहिए ?

II

ऊपर की चर्चा में मूल्यविषयक एक दृष्टि पूर्वगृहीत है। उस चर्चा को आधार देने के लिए उस दृष्टि को यहाँ वे स्पष्ट करना आवश्यक है। इसके लिए सर्वप्रथम मूल्य का स्वरूप समझना आवश्यक है और दूसरा, किन्तु प्रथम से अवियोज्य रूप से सम्बद्ध प्रश्न मूल्य के कर्म में निर्वाह का है।

अब, मूल्य क्या है ?साधारणतः किसी भी इच्छा–विषय अथवा प्राप्त लक्ष्य को मूल्य कहा जाता है। 'प्रत्येक व्यक्ति के अपने मूल्य होते हैं', 'मूल्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति–सापेक्ष होते हैं' ये आज बहुत प्रचलित धारणाएँ हैं और इन दोनों में यही पूर्वगृहीत है। किन्तु हम यह भी विमर्श करते हैं कि कौन–सा इच्छा–विषय मूल्य होने के योग्य है और कौन–सा इस योग्य नहीं है। यों योग्यता का यह प्रश्न मूल्य को इच्छा से पृथक् कर एक वस्तुनिष्ठ सन्दर्भ दे देता है किन्तु तब भी ये सन्दर्भ देश, काल, पात्र की सापेक्षता ले लेते हैं। 'आज मूल्यों में परिवर्तन हो रहा है' इस कथन में देश–काल–संदर्भ की सापेक्षता में रुचियों और विचारों को 'मूल्य' पद के वाचक के रूप में देखा जा रहा है। मूल्य–विषयक इस दृष्टि को स्वीकार करने पर मनुष्य के साध्य के निर्णय में तटस्थ विचार और विवेक का कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु यह नहीं रहने पर मूल्य–विमर्श की बात करना ही निरर्थक हो जाता है और न तब उचित–अनुचित का ही कोई अर्थ रह जाता है। यों आज एक बहुत बड़ा दार्शनिक समुदाय है, और आज का बहुमत उसी का अनुयायी है, जो साध्य–निर्णय या उचित–अनुचित–विवेक का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं मानता। किन्तु हमारा विश्वास है कि 'उन्मीलन' पत्रिका के सुधी जन अधिकांश पाठक उस समुदाय के भाग नहीं हैं, अथवा यह चर्चा यहीं बन्द कर देनी पड़ती, क्योंकि यहाँ इस मूल प्रश्न पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता कि मूल्य कैसे वस्तुनिष्ठ विमर्श के विषय हैं।[7] सो, यहाँ हम इस सम्बन्ध में उन्मीलन के पाठकों से सहमति मान कर 'मूल्य' को परिभाषित करने का प्रयत्न करेंगे। यह परिभाषा हो सकती हैं "आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता की सिद्धि"। किन्तु इस पर आपत्ति हो सकती है कि इस परिभाषा को सर्वसम्मत मान कर भी विवाद वहीं का वहीं रह जाता है, क्योंकि तब विवाद का विषय आत्मा का स्वरूप हो जाता है। सर्वप्रथम तो आज आत्मा की बात करना ही आदिम, या मध्ययुगीन, या असैक्युलर मनोवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है, किन्तु इस आक्षेप को छोड़ भी दिया जाय तो 'आत्मा' तो पुत्र–कलत्र, देह, इन्द्रिय, भाव, विचार से लेकर ब्रह्म तक कुछ भी हो सकता है। जिससे भी आप अपना तादात्म्य स्थापित कर लें वही आत्मा है। अधिकांश में हमारा आत्मा हमारी देह और इन्द्रियाँ ही रहती हैं, अधिक ऊपर उठें तो भाव और विचार हमारे आत्मा–स्थानीय हो जाते हैं। किन्तु बहुतों को कभी, किन्हीं स्थितियों में, इनमें आत्मा के परत्व की झलक भी दृष्टिगोचर होती है, स्वयं आत्मा के अपने स्वरूप की झलक चाहे नहीं भी गोचर होती हो। किन्तु हम इस झलक पर अपना भाव अल्प

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काल के लिए भी स्थिर कर आत्मा के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त नहीं हो पाते। जो इस परत्व से मुक्ति का निरन्तर अनुसन्धान करते हैं उन्हीं को हम महात्मा कहते हैं। महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण जीवन इसका अनन्य–साधारण उदाहरण है। सामाजिक आदर्श के रूप में उनकी ग्राम–समाज की दृष्टि, भारत की स्वाधीनता के ऊपर सत्य की प्रतिष्ठा उनके इसी आत्म और अनात्म के तत्त्व–बोध से प्रेरित थी। उनका 'ग्राम–जीवन' से अर्थ इसी 'परत्व या अनात्म से मुक्त जीवन' से और 'सत्य' से अर्थ इसी 'आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता' से था, जैसा कि उनके 'सत्य' और 'ईश्वर' को पर्यायवाची शब्द कहने से स्पष्ट है। 'सत्य' का साधारण अर्थ है 'कथन का कथ्य के अनुरूप होना।' किन्तु जब 'सत्य' को 'ईश्वर' के पर्यायवाची के रूप में देखा जाता है तब उसका एक ही अर्थ हो सकता है – आत्मा का अपने स्वरूप के अनुरूप होना। अब 'सत्य' का यह अर्थ होने पर देश की स्वतंत्रता सत्य के ऊपर कैसे प्रतिष्ठा पा सकती है ?क्योंकि सत्य को नकार कर तो स्वतंत्रता ही नकारी जाएगी – यदि स्वतंत्रता 'स्व की अपने तंत्र में प्रतिष्ठा, स्व की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा' है तो ! अब, गाँधी जी के इस कथन की एक प्राचीन श्लोक में प्रतिध्वनि देखें –

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्,
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे सर्वं त्यजेत्।

वास्तव में यदि हम देश की स्वतंत्रता को सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित कर देंगे तो किसी भी तर्क से देश की स्वतंत्रता को अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। इसलिए, जब हम देश को अपने से ऊपर रखने की श्रेष्ठता की बात करते हैं तब सत्य के तर्क को केवल अंशतः ही देखते हैं, क्योंकि तब देश भी एक विस्तृततर स्वार्थ, विस्तृततर अहंकार ही हो जाता है। गाँधी जी की यही दृष्टि नागर जीवन में परोन्मुखता और ग्राम–जीवन में परत्व से निवृत्ति देखने के पीछे भी थी। नेहरू जी ने अपने पत्र में इसके विरुद्ध ग्रामजीवन में चेतना और संस्कृति के अविकसित रहने की और नागर जीवन में इसके विकास–लाभ करने की बात कही है। जिसका अर्थ है कि वे साहित्य, संगीत, विज्ञान और शास्त्र में और उससे भी अधिक प्रौद्योगिकी और व्यापार में आत्मा का स्वरूप–लाभ देखते हैं। नेहरू जी को छोड़ते हुए, यहाँ मूल्य–विषयक इन दो दृष्टियों की बात की जा सकती है और कहा जा सकता है कि गाँधी–दृष्टि जबकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत्प्रवृत्ति में आत्मा की अपने स्वरूप से विमुखता देखती है, नेहरू–दृष्टि जगत् ही में आत्मा का आत्मचरितार्थन देखती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति वास्तव में इस दूसरी दृष्टि की ही अनुसारी है और यह भी सही है कि सभ्यताओं और संस्कृतियों का विकास इस दूसरी दृष्टि से ही हो सकता है। इसमें पुरुषार्थ भी है – अर्थ और काम–मूलक अर्थों में आत्मा का अनुसन्धान। किन्तु जैसा कि गाँधी जी ने देखा, इसमें हिंसा और असत्य से मुक्ति नहीं है, बल्कि इनका आश्रय इस विकास के लिए अनिवार्य–सा ही है। अपने इस पत्र के अन्त में नेहरू जी ने इसे स्वीकार भी किया है। वे कहते हैं, "आपका यह कहना सही है कि मनुष्य–जगत् अथवा इसका बहुत बड़ा भाग, आत्महत्या पर उतारू है। यह सभ्यता की भूमि में आ पड़े किसी विषबीज के अंकुरित और पल्लवित हो जाने का अनिवार्य परिणाम हो सकता है। हमारा प्रयत्न इसके घातक परिणामों से बचने का होना चाहिए।" किन्तु इन परिणामों से हम और संसार की दूसरी सभ्यताएँ कहाँ तक बच पायी हैं और इनके बचने की क्या सम्भावनाएँ हैं, यह हम देख ही रहे हैं। स्वयं नेहरू जी ने इस विष–बीज के सम्बन्ध में जानते हुए भी इससे बचने के लिए कुछ करना तो दूर इसके प्रभाव को कम करने के लिए भी कोई प्रयत्न नहीं किया। या कि यह इस सभ्यता के विकास की गति का ही अनिवार्य तर्क है कि इससे बचना असम्भव है, अन्यथा नेहरू जी की सदाशयता में तो किसी को संदेह नहीं हो सकता।

III

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने जो देखा वह ऐसा कुछ नहीं था जो पहले किसी ने नहीं देखा था। वास्तव में हमारे यहाँ कलियुग की कल्पना के रूप में यह दृष्टि स्पष्ट विद्यमान थी, सम्राट् अशोक में राजनीति को सत्य और अहिंसा में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि भी दिखायी देती है, किन्तु सत्य और अहिंसा से सम्पूर्ण जनमानस का इस्पातीकरण और गोलियों का मुकाबला खाली छाती से करना और उसे युद्ध–कौशल[3] का रूप दे देना, यह इस देश को और इस देश के माध्यम से सम्पूर्ण संसार को सतयुग में लौटा ले चलने का ऐसा हठ था जिसमें गाँधी–दृष्टि की अपूर्वता थी। वे इसमें बुरी तरह असफल रहे, यह हम देख ही सकते हैं, यद्यपि यह सही है कि यदि स्वतंत्रता के अवसर पर देश की बागडोर नेहरू जी के बजाय सुभाष या पटेल जैसे किसी व्यक्ति के हाथ में आयी होती तो सम्भव है हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस अनिवार्य असफलता के बावजूद इतने गहरे और इतने गंदे गर्त में नहीं गिरे होते जिसमें हम नेहरू जी के कारण गिरे। नेहरू जी के कारण हम अतिरिक्त गहराई में गिरे, इसका कारण हमारा जातीय स्वभाव को छोड़कर परभाव का अनुकरण था। दूसरे, नेहरू जी ने भाखड़ा–नंगल और सिंद्री आदि परियोजनाओं को मंदिर ही घोषित कर दिया और इस प्रकार केवल अर्थ और काम को ही, धर्म और मोक्ष से नितांत विमुखता के साथ, हमारा पुरुषार्थ बना दिया। निश्चय ही इसमें केवल नेहरू जी को दोष देना अनुचित होगा, क्योंकि नेहरू जी दूसरों के सहयोग के बिना और देश के उस वर्ग के सहयोग के बिना जो वर्ग शक्तिपीठों के निकट था, अकेले ही यह नहीं कर सकते थे। किंतु वे देश में कलियुग के कुरूपतम रूप के अवतरण में नायक अवश्य बने। उदाहरणतः उन्होंने हमारी चेतना का जिस प्रकार पश्चिमीकरण और लोकायतीकरण किया, उन्होंने जिस प्रकार शिक्षा–क्षेत्र की उपेक्षा की, वह सब उन्हीं की विशिष्ट देन है।

ऊपर उद्धृत पत्र में नेहरू जी ने गाँधी जी के ग्राम–आधारित समाज के विचार का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा, "मुझे यह बात समझ में नहीं आयी कि क्यों सत्य और अहिंसा का वास ग्राम में ही सम्भव है। साधारणतः ग्राम बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े ही होते हैं और एक पिछड़े हुए वातावरण में प्रगंति सम्भव नहीं हो सकती। संकुचित मानसिकता वाले लोगों के असत्य और हिंसा–परायण होने की सम्भावना अधिक होती है।"... पत्र में आगे उन्होंने आज के युग में किसी देश के सांस्कृतिक रूप से (और सत्य में प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी (?)) उन्नत होने के लिए उसका तकनीकीय और वैज्ञानिक दृष्टि से उन्नत होना आवश्यक बताया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नेहरू जी भी कोई नयी बात नहीं कर रहे थे। सभ्यताओं के इतिहास के सभी आधुनिक लेखक सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए नागरता को अनिवार्य मानते हैं और यह भी देखा जा सकता है कि हमारा सम्पूर्ण शिक्षित वर्ग 'वैज्ञानिक' शब्द को युक्ति–सम्मतता और सांस्कृतिकता का पर्याय मानता है और तकनीकी विकास को 'प्रगति' का पर्यायवाची मानता है। यों पुराकाल में भी 'ग्राम्य' शब्द का प्रयोग 'मूढ़' के पर्यायवाची के रूप में होता था और 'नागर' शब्द का 'परिष्कृत' के पर्यायवाची के रूप में। किन्तु विचार की इस दिशा में यह भुला दिया जाता है कि न वेद और उपनिषद् नागर सभ्यता की देन थे और न कबीर, नानक,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तुलसी और सूर आदि ही नागर सभ्यता की देन थे। सुकरात और प्लेटो के होने के लिए भी नागर सभ्यता अनिवार्य नहीं थी। गाँधीजी जब सत्य और अहिंसा–परायण समाज के लिए ग्राम की बात करते हैं तब उनकी दृष्टि में ऐसा ही अन्तःप्रकाशित समाज है, इसी से वे 'कल्पना के ग्राम' की बात करते हैं, तत्कालीन अविकसित ग्राम की नहीं। निश्चय ही भारत में सभ्यता का विकास तो मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य में ही हुआ, किन्तु वह हिंसा और अन्य लोक–साधारण उपायों से ही हुआ और सत्य वहाँ ब्राह्मणों के माध्यम से ही चरितार्थ किया गया। दर्शन, शास्त्र, कला और शिल्प का विकास ऐसे साम्राज्यों में ही विशेष हुआ। आत्मा को पाने की यह भी एक दिशा है, इसी दिशा में आगे विज्ञान और तकनीकी भी आते हैं, केवल इस अन्तर के साथ कि इनमें आकर आत्मा प्रायः पूर्णतः देह और इन्द्रियों से तदात्म हो जाती है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि सभ्यता के नागर विकास के बिना आभ्यन्तर अर्थों के विकास की सम्भावना चरितार्थ हो ही, यह आवश्यक नहीं है, उससे भी अधिक सम्भावना इस बात की रहती है कि बाह्यार्थों के विकास से वंचित जन आन्तर अर्थों के विकास से भी वंचित रहें। अधिकांश विकसित संस्कृतियों में ग्राम इसी अविकास के उदाहरण हैं, स्वयं हमारे देश में भी 'ग्राम्य' शब्द इसी बात की ओर संकेत करता है। इसी से जब गाँधी जी ने ग्राम की बात की तब उस ग्राम की बात नहीं की जो हमारे देश में उपलब्ध था बल्कि 'कल्पना के ग्राम' की बात की, उस ग्राम की जिसमें मनुष्य बाह्यार्थों के अन्वेषण में अपनी चरितार्थता नहीं देखता बल्कि आंतरिक अर्थों के अन्वेषण में देखता है।

IV

किन्तु तब यहाँ अनेक व्यावहारिक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। सबसे पहला और प्रमुख प्रश्न तो यही है कि ऐसा समाज उन दूसरे समाजों से अपनी रक्षा कैसे कर पायेगा जो बाह्यतः समृद्ध और इस प्रकार शक्तिशाली हैं, अथवा जो भीतर–बाहर दोनों ओर से विपन्न हैं किन्तु आसुरी शक्ति से सम्पन्न हैं ?अतीत में संस्कृति में समुन्नत प्रायः सभी जातियाँ उन बाह्य आक्रान्ताओं से परास्त होती रही हैं जो सांस्कृतिक रूप से अविकसित थे। हमारा देश तो इसका ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है। आज तो परिस्थिति और भी विकट है, आज सारा संसार यातायात और सम्प्रेषण–यंत्रों के चामत्कारिक विकास से बहुत कुछ एक समाज और एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाजार जैसा हो गया है, जो समाज और बाजार केवल जंगल के नियमों से नियन्त्रित है। गाँधी जी का सपना था कि भारत में ग्राम–समाज के रूप में एक वास्तविक मानवीय सभ्यता की प्रतिष्ठा कर सकेंगे और उसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व में उस सभ्यता का प्रवर्त्तन कर सकेंगे। किन्तु वे अपनी इस सोच में वास्तविकता से बहुत दूर थे। पाश्चात्य सभ्यता में जो विष–बीज यांत्रिकी–प्रौद्योगिकी के रूप में अंकुरित हो गया था और गाँधी जी ने जिसके फलों के रूप–गुण का सम्यक् रूप से अनुमान कर लिया था उसे जड़ से ही उखाड़ने का उपाय तो वही था जो गाँधी जी करना चाहते थे, किन्तु वह उपाय नितान्त अव्यावहारिक था। क्योंकि मनुष्य की जो प्रकृति है उसके रहते, और संसार की जो तत्कालीन परिस्थिति थी उसके रहते, इतिहास की गति को ग्राम–सभ्यता की दिशा में आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। यदि किसी प्रकार हम अपने देश में वैसा करने में सफल हो भी पाते तो अन्य देशों में वह कर पाना सम्भव नहीं था और उसके बिना हमारे देश में भी वह टिका नहीं रह सकता था। इसके अतिरिक्त, मानव–प्रकृति के वैसा रहते जैसी वह है, हमारे देश में भी उसकी स्थायिता सम्भव नहीं थी। अतीत में मनुष्य को अपने स्वरूप की ओर उन्मुख करने के अनेक प्रयत्न हुए और मानवसमाज ऐसे मार्गदर्शकों की प्रेरणा से उस दिशा में उन्मुख होता भी रहा, किन्तु प्रेरणा–स्रोत के हट जाने के बाद वह पुनः अपनी पहली दशा में ही लौट आता रहा। गाँधी जी के तो अपने जीवनकाल में ही उनके कम से कम राजनीतिक सहयोगियों ने ही उनकी मूल्य–दृष्टि को स्वीकार नहीं किया और उनके स्वयं के द्वारा चुने गए उत्तराधिकारी ने उन्हें सबसे अधिक मूलगामी रूप में अस्वीकार किया। ऐसे में उन विषाक्त फलों का फलना तो स्वाभाविक ही था जो फले, और हमारा उस अंधे कुएँ में गिरना भी अनिवार्य था जिसमें आज हम आ पड़े हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारा इस गर्त में गिरना हमारी अनिवार्य नियति थी। ग्राम–समाज की ओर यथावत् अग्रसर होना सम्भव नहीं होने पर भी हम उस मूल्य–दृष्टि को अपना आदर्श रख सकते थे। आखिर महात्मा गाँधी भारत में इसी युग में हुए थे और वे केवल एक व्यक्ति ही नहीं थे बल्कि उस तत्त्व के एक द्रष्टा भी थे जो सनातन भारत का तत्त्व है। इसी युग में वह तत्त्व रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, श्री अरविन्द आदि अन्य अनेक महात्माओं में भी उपाधि–भेद से भास्वर देखा जा सकता है। गाँधीजी उसी तत्त्व की एक व्यापकतर अभिव्यक्ति थे। गाँधीजी ने उस तत्त्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को जो राजनीतिक सन्दर्भ में व्यवहार का रूप दिया उसी में उनका अद्भुत नावीन्य और सृजनात्मकता थी, अन्यथा तो वह सनातन भारत का ही तत्त्व था। जैसा कि हमने पीछे कहा, इस तत्त्व के इस रूप के काल–भेद से भिन्न लक्षण सम्राट् अशोक में भी देखे जा सकते हैं। यदि व्यवहार के अनुरोध से उस तत्त्व की गाँधी–दृष्टि में कुछ संशोधन की आवश्यकता थी तो उसमें यथोचित संशोधन करना उनके उत्तराधिकारियों का काम था। यों स्वयं गाँधी जी ही अपनी दृष्टि के व्यवहार में निरन्तर संशोधन करते रहे थे। उदाहरणतः वे क्रमशः यंत्रों को उस सीमा तक स्वीकार करने को राजी थे जिस सीमा तक वे मनुष्य के उपकरण रहें। जिस सीमा के आगे मनुष्य उनका उपकरण होने लगे केवल वहाँ ही वे उन्हें स्वीकृति देने को राजी नहीं थे। यों भी आखिर किसी यंत्र का विरोध कैसे हो सकता है ? विरोध तो उस अभिवृत्ति या मानसिकता का ही हो सकता है जो इन यंत्रों के साथ आती है। यंत्र आत्मा का ही बाह्यार्थ है। देहात्म के अनुरोध के बाह्यार्थों में आत्मा का विस्तार यंत्रों.की दिशा में होना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। आखिर आत्मा एक से अनेक भी अपने बाह्याक्षेप से ही हुआ और इससे इस जगत् का आविर्भाव हुआ। किंतु यह आत्मा बाह्य अर्थों में अपनी सम्पन्नता का लाभ करे, अपने को चरितार्थ करे, यह तो प्रेय का श्रेयात्मक रूप हो सकता है, किंतु बाह्य अर्थों में आत्मा आत्मविमुख होने लगे और इस प्रकार विपन्न हो जाये, यह भयावह है। यदि हम इस खतरे को सम्यक् रूप से समझ कर यंत्र को बाह्य जीवन की बाध्यताओं के रूप में अपनाते तब इस विमुखता से बहुत कुछ बच सकते थे। किंतु हमने राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ आत्मा का उद्धार आत्मवैमुख्य में ही देखा। इसी का यह परिणाम है कि हम आज सुन्द और उपसुन्द के वंशजों जैसे हो रहे हैं, ऋषियों के या राम के वंशजों जैसे नहीं। दूसरी आधारभूत बात यह है कि आज हम उस सनातन भारत को ही अस्वीकार कर रहे हैं, गाँधी जी ने जिसका साक्षात्कार किया था और जो अन्तःसलिला के समान हमारे जातीय जीवन को सौ संकटों के बीच भी बचाये हुए है। उसे हम साम्प्रदायिकता–धर्मांधता आदि कह रहे हैं और यह केवल अज्ञानवश नहीं बल्कि स्वार्थ और झूठ के वश ही कह रहे हैं, इस कारण हमारी चेतना के और गहरे अंध तमस से आवृत्त होने की आशंका होती है। तीसरी, और भी भयानक बात यह है कि किसी भी मनुष्य के आत्म–लाभ के लिए या व्यक्ति होने के लिए जो पहली शर्त है – आत्मसम्मान, निज के धर्म–स्वभाव में प्रतिष्ठा, अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 31, अंक 1 जनवरी–जून, 2017

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा,** सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. **यशदेव शल्य,** पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 0141–2707493
2. **मुकुन्द लाठ,** ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302019 दूरभाष 0141–2294727/2293725

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपालं–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)
Reconised by University Grant Commission

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि ''प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन'' के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श 5
यशदेव शल्य

2. भारतीय मानस का वि–औपनिवेशीकरण : 20
प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की कार्ययोजना
अम्बिकादत्त शर्मा

3. महिषासुर विमर्श की इतिहास–दृष्टि : शम्बुक का 44
द्राविड़ प्राणायाम
अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र

4. न्यायशास्त्रीय प्रमाण–लक्षण का द्वितीय प्रस्थान : 67
जयन्त भट्ट का सामग्रीकारणतावाद
अरुण मिश्र

5. ज्ञानश्रीमित्र प्रणीत साकारसिद्धिशास्त्र 101
का प्रथम अध्याय : निराकार–निराकरण
बृजकिशोर त्रिपाठी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. *यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श *

यशदेव शल्य

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष अपने इतिहास में अनेक जातियों, सभ्यताओं या संस्कृतियों को करने पड़े हैं, किन्तु उन संघर्षों में उनके द्वारा स्वयं स्वतंत्रता को ही एक साध्य–मूल्य के रूप में देखा गया, उसमें किसी और मूल्य के निक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठा। इसी प्रकार यह प्रश्न हमारे देश के स्वतंत्रता संग्राम के क्रम में भी नहीं उठा होता। 'स्वतंत्रता अपने आप में साध्य हैं यह प्रतिज्ञप्ति इतनी स्वतः प्रमाण मानी जाती है कि जब महात्मा गाँधी ने इस साध्य के लिए अपनाये जाने वाले साधनों के भी समान रूप से उचित होने की बात की तब विवाद का विषय यही रहा कि उचित साध्य को किन्हीं भी साधनों से सिद्ध करना उचित है या कि साधनों के औचित्य का ध्यान रखना भी उतना ही आवश्यक है ? स्वयं स्वतंत्रता की साध्यता के औचित्य में तब भी किसी ने कभी संदेह व्यक्त नहीं किया। किंतु गाँधीजी ने न केवल साध्यभूत स्वतंत्रता के लिए साधनों के औचित्य को भी उतना ही आवश्यक माना जितना साध्य स्वतंत्रता को माना, बल्कि स्वयं स्वतंत्रता को भी निरपेक्ष साध्य मूल्य के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे एक सापेक्ष साध्य के रूप में ही देखा। गाँधीजी ने भारत की स्वतंत्रता को भारत की अपने स्व में प्रतिष्ठा के रूप में देखा था, जिसमें राजनीतिक पराधीनता अनेक में से केवल एक बाधक थी। स्वतंत्रता–संग्राम विषयक इस दृष्टि के द्रष्टा और इसका सर्वभावेन अनुसरण करने वाले केवल वे ही थे। इसके प्रमाण के रूप में हम रोम्यां रोलां की डायरी (17.1.1924) से एक उद्धरण देना चाहेंगे। चौरीचौरा के आन्दोलन में हिंसा हो जाने के बाद गाँधीजी द्वारा वह आन्दोलन बंद कर दिया गया था। पर रिचर्ड नामक एक अंग्रेज ने, जो अहिंसा का अन्यथा समर्थक था किन्तु उसे राजनीतिक व्यवहार का आधार बनाने के पक्ष में नहीं

** चम्पारण सत्याग्रह, की 100 वीं वर्षगांठ और भारत छोड़ो आन्दोलन की75 वीं वर्षगांठ के अवसर पर इस आलेख का पुनः स्मरण (सम्पादक)।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

था, उनसे पूछा, "मान लें कि इंग्लैंड में सशस्त्र विद्रोह भड़क उठता है और उससे आपके देश की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है, तब आप क्या करेंगे ?" गाँधी जी ने इसका उत्तर दिया, "तब मैं उस विद्रोह को रोकने का प्रयत्न करूंगा।" रोम्या रोलां इसके आगे लिखते हैं, "तब इस क्रम में तिलक से मतभेद की बात करते हुए गाँधी जी ने यह स्वीकार किया कि तिलक ने यह स्पष्टतः कहा है कि वे सत्य के ऊपर अपने देश की स्वतंत्रता को चुनेंगे जबकि वे (गाँधीजी) स्वतंत्रता के ऊपर सत्य को चुनेंगे।"[1] आगे 28 जुलाई 1924 को डायरी में वे लाला लाजपतराय के सम्बन्ध में लिखते हैं, "वे एकमात्र भारतीय राजनीतिक नेता हैं जो गाँधीजी को परामर्श देने की स्थिति में हैं और गाँधीजी जिनकी बात सुनते हैं, जो दास (चितरंजन दास) के अतिरिक्त एकमात्र प्रथम कोटि के भारतीय नेता हैं, या शायद दास से भी प्रथम हैं। किन्तु जहाँ तक मैं देख सकता हूँ, उनका मानस शुद्ध रूप से राजनीतिक स्तर पर ही क्रियाशील है। यदि उन्होंने गाँधी जी के अहिंसक प्रतिरोध के सिद्धान्त को स्वीकार किया है तो वह केवल राजनीतिक कारणों से ही किया है। लाजपतराय जेल से आने के बाद गाँधी जी के इस विचार से पूर्णतः असहमत हैं और कहते हैं कि यदि वे अपना विचार नहीं छोड़ते हैं तो उन्हें (लाजपतराय को) उनसे अलग होना पड़ेगा।" रोम्या रोलां की डायरी से ये उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि स्वतंत्रता–संग्राम में जो मूल्य–दृष्टि गाँधी जी की थी वह अन्य किसी की नहीं थी, क्योंकि तिलक और लाजपतराय को निस्संकोच रूप से महात्मा गाँधी से इतर सभी तत्कालीन राजनीतिक नेताओं का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। दूसरी ओर महात्मा गाँधी को सब समयों और देशों के राजनेताओं में एक अपवाद कहा जा सकता है। व्यक्तिगत जीवन में नितान्त असाधारण और साक्षात्कारी मूल्य–दृष्टि वाले, और उस दृष्टि के अनुसार देह से मनस् पर्यन्त अपने सत्व को ढालने वाले तो संसार के इतिहास में और भी कुछ महात्मा मिल जाएंगे, किंतु संधि, विग्रह, यान, आसन, संशय, द्वैधीभाव की आचार–नीति से परिभाषित राजनीति के सार्वजनिक जीवन को भी धर्म–दृष्टि के अनुसार ढालने वाला उनके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं मिलेगा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाँधी जी को मूर्त सत्य कहा है और उनकी तुलना महात्मा बुद्ध से की है, किन्तु सत्य–जीवन को राजनीतिक व्यवहार का भी मेरुदण्ड बनाने के कारण गाँधी जी से बुद्ध की तुलना भी नहीं की जा सकती। गाँधी–दृष्टि का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ व्यक्तिगत ही नहीं सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार को भी पूर्ण रूप से सत्य के अधीन कर देना है, जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। बुद्ध ने परमार्थान्वेषण की दृष्टि से आर्यजन और पृथग्जन में भेद किया है और व्यवहार–जगत् को पृथग्जन के लिए छोड़ दिया है। राजनीति तो व्यवहार–जगत् में भी निम्नतम स्तर पर आती है। किन्तु गाँधी जी ने व्यवहार को भी परमार्थ का विषय बना दिया।

इस आधार पर से ही महात्मा गाँधी की दृष्टि के और पक्ष भी समझे जा सकते हैं। उनके द्वारा आधुनिक यांत्रिकी का ही अस्वीकार नहीं बल्कि नागर सभ्यता मात्र का ही अस्वीकार उनकी इसी दृष्टि का अंग है। इस शताब्दी के आरम्भ में ही लिखे हिन्द–स्वराज्य के लेखों में उन्होंने यूरोपीय यांत्रिक–वैज्ञानिक सभ्यता को मूल से ही अस्वीकार किया था[2], किन्तु अक्टूबर 1945 में पं. जवाहरलाल नेहरू को लिखे एक पत्र में उन्होंने पुनः लिखा, "मेरा विश्वास है कि यदि भारत को सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी है और उसके माध्यम से संसार को भी स्वतंत्र्य–लाभ करना है[3] तब देर या सबेर इस तथ्य को स्वीकार करना अनिवार्य होगा कि लोगों का गाँवों में रहना ही उचित है, नगरों में नहीं, झोपड़ियों में रहना ही उचित है, महलों में नहीं ...।

"मेरा विश्वास है कि सत्य तथा अहिंसा के बिना मनुष्य का विनाश अनिवार्य है और सत्य तथा अहिंसा को हम ग्राम–जीवन की सरलता में ही साध सकते हैं और ग्राम–जीवन की यह सरलता सही रूप में चरखे के द्वारा और उस भाव के द्वारा ही, जिसे यह प्रतीक व्यक्त करता है, सम्भव हो सकता है।"[4]

यहाँ उस स्पष्टीकरण का उल्लेख आवश्यक है जो महात्मा गाँधी ने इसी पत्र में आगे दिया है, कि 'ग्राम' से उनका आशय वर्तमान भारतीय ग्राम से नहीं है जिसमें अशिक्षा, जहालत, अस्वास्थ्य और गंदगी है बल्कि उस कल्पना के ग्राम से है जिसमें शिक्षा, जागरूकता और स्वस्थ्य तथा स्वच्छ वातावरण होगा। इस पत्र के उत्तर में नेहरू जी ने स्वतंत्र भारत की अपनी अवधारणा लिखी। नेहरू जी की अवधारणा आधुनिक, नागर तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकीय रूप से समुन्नत और संसार के अन्य देशों के साथ कदम मिला कर चलने वाले भारत की थी। स्पष्टतः वह अवधारणा पूर्णतः व्यावहारिक थी, ऐसी जिसमें युग–परिस्थिति और मानव–स्वभाव का ध्यान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रखा गया था। निश्चय ही प्राप्त वस्तुस्थिति और प्राप्य आदर्श के बीच अन्तर की, और इस प्रकार मूल्य की बात उनके पत्र में भी थी, किन्तु वह मूल्य व्यवहार–सम्मत और इतिहास–सम्मत था, परमार्थ–सम्मत नहीं। इसी पत्र में, जैसे अन्य सब जगह भी, गाँधी जी ने 'स्वतंत्रता' शब्द के साथ 'सच्ची' विशेषण का प्रयोग भी अनिवार्य रूप से किया है और भारत की इस स्वतंत्रता को विश्व–मानव के स्वातंत्र्य का प्रवर्तक कहा है। जिसका अर्थ है कि वे भारत की केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की बात नहीं कर रहे थे बल्कि उस समग्र स्वतंत्रता की बात कर रहे थे जिसमें आत्मा की निर्मलता केन्द्रीय है, जिस स्वतंत्रता से परतंत्र भारत से भी अधिक दूसरे स्वतंत्र देश दूर थे। इसी कारण महात्मा गाँधी केवल भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के ही नायक नहीं थे, बल्कि अन्य देशों के असंख्य प्रबुद्ध लोगों के लिए भी प्रेरणा–स्रोत थे। यह इस बात से देखा जा सकता है कि रोम्या रोलां द्वारा 1922–23 में लिखी महात्मा गाँधी की जीवनी के यूरोप और रूस की प्रायः सभी भाषाओं में तुरन्त अनुवाद हो गए और उन सबके अनेक संस्करण और आवृत्तियाँ प्रकाशित हुई। किन्तु यह भी सत्य है कि भारत में उनके राजनीतिक सहयोगियों में किसी को वह दृष्टि उपलब्ध नहीं थी, सम्भवतः अब्दुल गफ्फार खां के अतिरिक्त और न भारतीय जन–समुदाय की चेतना ही उस दृष्टि से प्रकाशित थी। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि तब भी वे भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के केवल अनेक में से एक नायक नहीं थे बल्कि एक तरह से एकमात्र नायक थे, अन्य लोग उनके सहयोगी मात्र थे। ऐसा सम्भवतः इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि उन्होंने अपने को वास्तविक भारतीय जन की आदर्श प्रतिमा में ढाला, भारत के दीन, दुःखी, दरिद्र जन ने उनमें अपने नारायणीय अवतार को पाया। यदि वे भारतीय राजनीतिक मंच पर नहीं उतरे होते तो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम का रूप केवल मध्य वर्ग के असंगठित विद्रोह का ही रहा होता, एक व्यापक और अभूतपूर्व प्रकार की जन–क्रांति का रूप उसका नहीं होता।

किन्तु यह परिस्थिति भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम को एक विरोधाभास पूर्ण भी बना देती है। गाँधी जी जबकि परमार्थ सत्य के अन्वेषी थे, जो सत्य न उनके किसी राजनीतिक सहयोगी को गम्य था और न ही भारतीय जनमानस को, तब भी वे ऐसे एकमात्र राजनीतिक नेता थे जो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के नायक थे और अन्य सब उनके पीछे चलने को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवश थे। भारतीय जनमानस के दूसरे पक्ष का, जिसे इसका लौकिक–व्यावहारिक पक्ष कहा जा सकता है, दूसरे नेता प्रतिनिधित्व कर रहे थे और इसके एक बहुत लघु किन्तु शासक वर्ग द्वारा संरक्षित और प्रवर्द्धित वर्ग का, जो विश्वविद्यालयों में शिक्षित था और जिसके आचार और विचार का परम आदर्श पश्चिम था, उसका प्रतिनिधित्व नेहरू जी कर रहे थे। किन्तु तब भी ये सब उस गाँधी के आगे विवश थे जिसमें भारत की सनातन चेतना मूर्त हुई थी और इस प्रकार जिसे नहीं समझ कर भी सब उसके पीछे चलने को विवश थे। भारतीय परिस्थिति के इस विरोधाभास को गाँधीजी जानते थे और शायद वे अकेले ही इस बात को जानते थे। इसीलिए बार–बार उस स्वतंत्रता के सम्बन्ध में देश को चेताते रहते थे जो केवल गोरे साहिबों के स्थानान्तरण के रूप में हमारे हाथ लगने वाली थी।

किन्तु तब यहाँ एक और बहुत बड़ी पहेली रह जाती है, रहस्यों का रहस्य, कि इसी पारदृष्टि वाले गाँधी जी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में उस नेहरू को ही क्यों चुना जो उनके सब सहयोगियों से अधिक यूरोपाभिभूत थे? स्वतंत्रता के बाद अपने यूरोपीय उत्तराधिकार को स्वयं नेहरू जी ने अत्यन्त सटीक रूप में और सगर्व स्वीकार करते हुए एक अमरीकी राजदूत गैल्ब्रैथ से कहा था, "मैं भारत का अन्तिम ब्रिटिश शासक हूँ।"[6] वस्तुतः वे सचमुच में वही थे और इस कारण ब्रिटिशों से कहीं अधिक घातक कि वे भारतीय खाल में थे। शायद ऐसा कहना बहुत अधिक होगा कि कहीं गहरे में महात्मा गाँधी स्वयं भी अपनी मूल्य–दृष्टि की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में संदेहशील थे। यह बात और किसी प्रकार से समझ में नहीं आती। अन्यथा उनके द्वारा सभी अर्थों में एक भूरे यूरोपीय को स्वतंत्र भारत के नेतृत्व के लिए मूर्धाभिषिक्त करने का क्या औचित्य हो सकता था ? या कि इसका कारण भारत की जन्मपत्री में कहीं खोजना चाहिए ?

II

ऊपर की चर्चा में मूल्यविषयक एक दृष्टि पूर्वगृहीत है। उस चर्चा को आधार देने के लिए उस दृष्टि को यहाँ वे स्पष्ट करना आवश्यक है। इसके लिए सर्वप्रथम मूल्य का स्वरूप समझना आवश्यक है और दूसरा, किन्तु प्रथम से अवियोज्य रूप से सम्बद्ध प्रश्न मूल्य के कर्म में निर्वाह का है।

अब, मूल्य क्या है ?साधारणतः किसी भी इच्छा–विषय अथवा प्राप्त लक्ष्य को मूल्य कहा जाता है। 'प्रत्येक व्यक्ति के अपने मूल्य होते हैं', 'मूल्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति–सापेक्ष होते हैं' ये आज बहुत प्रचलित धारणाएँ हैं और इन दोनों में यही पूर्वगृहीत है। किन्तु हम यह भी विमर्श करते हैं कि कौन–सा इच्छा–विषय मूल्य होने के योग्य है और कौन–सा इस योग्य नहीं है। यों योग्यता का यह प्रश्न मूल्य को इच्छा से पृथक् कर एक वस्तुनिष्ठ सन्दर्भ दे देता है किन्तु तब भी ये सन्दर्भ देश, काल, पात्र की सापेक्षता ले लेते हैं। 'आज मूल्यों में परिवर्तन हो रहा है' इस कथन में देश–काल–संदर्भ की सापेक्षता में रुचियों और विचारों को 'मूल्य' पद के वाचक के रूप में देखा जा रहा है। मूल्य–विषयक इस दृष्टि को स्वीकार करने पर मनुष्य के साध्य के निर्णय में तटस्थ विचार और विवेक का कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु यह नहीं रहने पर मूल्य–विमर्श की बात करना ही निरर्थक हो जाता है और न तब उचित–अनुचित का ही कोई अर्थ रह जाता है। यों आज एक बहुत बड़ा दार्शनिक समुदाय है, और आज का बहुमत उसी का अनुयायी है, जो साध्य–निर्णय या उचित–अनुचित–विवेक का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं मानता। किन्तु हमारा विश्वास है कि 'उन्मीलन' पत्रिका के सुधी जन अधिकांश पाठक उस समुदाय के भाग नहीं हैं, अथवा यह चर्चा यहीं बन्द कर देनी पड़ती, क्योंकि यहाँ इस मूल प्रश्न पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता कि मूल्य कैसे वस्तुनिष्ठ विमर्श के विषय हैं।[7] सो, यहाँ हम इस सम्बन्ध में उन्मीलन के पाठकों से सहमति मान कर 'मूल्य' को परिभाषित करने का प्रयत्न करेंगे। यह परिभाषा हो सकती हैं "आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता की सिद्धि"। किन्तु इस पर आपत्ति हो सकती है कि इस परिभाषा को सर्वसम्मत मान कर भी विवाद वहीं का वहीं रह जाता है, क्योंकि तब विवाद का विषय आत्मा का स्वरूप हो जाता है। सर्वप्रथम तो आज आत्मा की बात करना ही आदिम, या मध्ययुगीन, या असैक्युलर मनोवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है, किन्तु इस आक्षेप को छोड़ भी दिया जाय तो 'आत्मा' तो पुत्र–कलत्र, देह, इन्द्रिय, भाव, विचार से लेकर ब्रह्म तक कुछ भी हो सकता है। जिससे भी आप अपना तादात्म्य स्थापित कर लें वही आत्मा है। अधिकांश में हमारा आत्मा हमारी देह और इन्द्रियाँ ही रहती हैं, अधिक ऊपर उठें तो भाव और विचार हमारे आत्मा–स्थानीय हो जाते हैं। किन्तु बहुतों को कभी, किन्हीं स्थितियों में, इनमें आत्मा के परत्व की झलक भी दृष्टिगोचर होती है, स्वयं आत्मा के अपने स्वरूप की झलक चाहे नहीं भी गोचर होती हो। किन्तु हम इस झलक पर अपना भाव अल्प

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काल के लिए भी स्थिर कर आत्मा के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त नहीं हो पाते। जो इस परत्व से मुक्ति का निरन्तर अनुसन्धान करते हैं उन्हीं को हम महात्मा कहते हैं। महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण जीवन इसका अनन्य–साधारण उदाहरण है। सामाजिक आदर्श के रूप में उनकी ग्राम–समाज की दृष्टि, भारत की स्वाधीनता के ऊपर सत्य की प्रतिष्ठा उनके इसी आत्म और अनात्म के तत्त्व–बोध से प्रेरित थी। उनका 'ग्राम–जीवन' से अर्थ इसी 'परत्व या अनात्म से मुक्त जीवन' से और 'सत्य' से अर्थ इसी 'आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता' से था, जैसा कि उनके 'सत्य' और 'ईश्वर' को पर्यायवाची शब्द कहने से स्पष्ट है। 'सत्य' का साधारण अर्थ है 'कथन का कथ्य के अनुरूप होना।' किन्तु जब 'सत्य' को 'ईश्वर' के पर्यायवाची के रूप में देखा जाता है तब उसका एक ही अर्थ हो सकता है – आत्मा का अपने स्वरूप के अनुरूप होना। अब 'सत्य' का यह अर्थ होने पर देश की स्वतंत्रता सत्य के ऊपर कैसे प्रतिष्ठा पा सकती है ?क्योंकि सत्य को नकार कर तो स्वतंत्रता ही नकारी जाएगी – यदि स्वतंत्रता 'स्व की अपने तंत्र में प्रतिष्ठा, स्व की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा' है तो ! अब, गाँधी जी के इस कथन की एक प्राचीन श्लोक में प्रतिध्वनि देखें –

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्,
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे सर्वं त्यजेत्।

वास्तव में यदि हम देश की स्वतंत्रता को सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित कर देंगे तो किसी भी तर्क से देश की स्वतंत्रता को अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। इसलिए, जब हम देश को अपने से ऊपर रखने की श्रेष्ठता की बात करते हैं तब सत्य के तर्क को केवल अंशतः ही देखते हैं, क्योंकि तब देश भी एक विस्तृततर स्वार्थ, विस्तृततर अहंकार ही हो जाता है। गाँधी जी की यही दृष्टि नागर जीवन में परोन्मुखता और ग्राम–जीवन में परत्व से निवृत्ति देखने के पीछे भी थी। नेहरू जी ने अपने पत्र में इसके विरुद्ध ग्रामजीवन में चेतना और संस्कृति के अविकसित रहने की और नागर जीवन में इसके विकास–लाभ करने की बात कही है। जिसका अर्थ है कि वे साहित्य, संगीत, विज्ञान और शास्त्र में और उससे भी अधिक प्रौद्योगिकी और व्यापार में आत्मा का स्वरूप–लाभ देखते हैं। नेहरू जी को छोड़ते हुए, यहाँ मूल्य–विषयक इन दो दृष्टियों की बात की जा सकती है और कहा जा सकता है कि गाँधी–दृष्टि जबकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत्प्रवृत्ति में आत्मा की अपने स्वरूप से विमुखता देखती है, नेहरू–दृष्टि जगत् ही में आत्मा का आत्मचरितार्थन देखती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति वास्तव में इस दूसरी दृष्टि की ही अनुसारी है और यह भी सही है कि सभ्यताओं और संस्कृतियों का विकास इस दूसरी दृष्टि से ही हो सकता है। इसमें पुरुषार्थ भी है – अर्थ और काम–मूलक अर्थों में आत्मा का अनुसन्धान। किन्तु जैसा कि गाँधी जी ने देखा, इसमें हिंसा और असत्य से मुक्ति नहीं है, बल्कि इनका आश्रय इस विकास के लिए अनिवार्य–सा ही है। अपने इस पत्र के अन्त में नेहरू जी ने इसे स्वीकार भी किया है। वे कहते हैं, "आपका यह कहना सही है कि मनुष्य–जगत् अथवा इसका बहुत बड़ा भाग, आत्महत्या पर उतारू है। यह सभ्यता की भूमि में आ पड़े किसी विषबीज के अंकुरित और पल्लवित हो जाने का अनिवार्य परिणाम हो सकता है। हमारा प्रयत्न इसके घातक परिणामों से बचने का होना चाहिए।" किन्तु इन परिणामों से हम और संसार की दूसरी सभ्यताएँ कहाँ तक बच पायी हैं और इनके बचने की क्या सम्भावनाएँ हैं, यह हम देख ही रहे हैं। स्वयं नेहरू जी ने इस विष–बीज के सम्बन्ध में जानते हुए भी इससे बचने के लिए कुछ करना तो दूर इसके प्रभाव को कम करने के लिए भी कोई प्रयत्न नहीं किया। या कि यह इस सभ्यता के विकास की गति का ही अनिवार्य तर्क है कि इससे बचना असम्भव है, अन्यथा नेहरू जी की सदाशयता में तो किसी को संदेह नहीं हो सकता।

III

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने जो देखा वह ऐसा कुछ नहीं था जो पहले किसी ने नहीं देखा था। वास्तव में हमारे यहाँ कलियुग की कल्पना के रूप में यह दृष्टि स्पष्ट विद्यमान थी, सम्राट् अशोक में राजनीति को सत्य और अहिंसा में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि भी दिखायी देती है, किन्तु सत्य और अहिंसा से सम्पूर्ण जनमानस का इस्पातीकरण और गोलियों का मुकाबला खाली छाती से करना और उसे युद्ध–कौशल[1] का रूप दे देना, यह इस देश को और इस देश के माध्यम से सम्पूर्ण संसार को सतयुग में लौटा ले चलने का ऐसा हठ था जिसमें गाँधी–दृष्टि की अपूर्वता थी। वे इसमें बुरी तरह असफल रहे, यह हम देख ही सकते हैं, यद्यपि यह सही है कि यदि स्वतंत्रता के अवसर पर देश की बागडोर नेहरू जी के बजाय सुभाष या पटेल जैसे किसी व्यक्ति के हाथ में आयी होती तो सम्भव है हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस अनिवार्य असफलता के बावजूद इतने गहरे और इतने गंदे गर्त में नहीं गिरे होते जिसमें हम नेहरू जी के कारण गिरे। नेहरू जी के कारण हम अतिरिक्त गहराई में गिरे, इसका कारण हमारा जातीय स्वभाव को छोड़कर परभाव का अनुकरण था। दूसरे, नेहरू जी ने भाखड़ा–नंगल और सिंद्री आदि परियोजनाओं को मंदिर ही घोषित कर दिया और इस प्रकार केवल अर्थ और काम को ही, धर्म और मोक्ष से नितांत विमुखता के साथ, हमारा पुरुषार्थ बना दिया। निश्चय ही इसमें केवल नेहरू जी को दोष देना अनुचित होगा, क्योंकि नेहरू जी दूसरों के सहयोग के बिना और देश के उस वर्ग के सहयोग के बिना जो वर्ग शक्तिपीठों के निकट था, अकेले ही यह नहीं कर सकते थे। किंतु वे देश में कलियुग के कुरूपतम रूप के अवतरण में नायक अवश्य बने। उदाहरणतः उन्होंने हमारी चेतना का जिस प्रकार पश्चिमीकरण और लोकायतीकरण किया, उन्होंने जिस प्रकार शिक्षा–क्षेत्र की उपेक्षा की, वह सब उन्हीं की विशिष्ट देन है।

ऊपर उद्धृत पत्र में नेहरू जी ने गाँधी जी के ग्राम–आधारित समाज के विचार का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा, "मुझे यह बात समझ में नहीं आयी कि क्यों सत्य और अहिंसा का वास ग्राम में ही सम्भव है। साधारणतः ग्राम बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े ही होते हैं और एक पिछड़े हुए वातावरण में प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। संकुचित मानसिकता वाले लोगों के असत्य और हिंसा–परायण होने की सम्भावना अधिक होती है।"... पत्र में आगे उन्होंने आज के युग में किसी देश के सांस्कृतिक रूप से (और सत्य में प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी (?)) उन्नत होने के लिए उसका तकनीकीय और वैज्ञानिक दृष्टि से उन्नत होना आवश्यक बताया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नेहरू जी भी कोई नयी बात नहीं कर रहे थे। सभ्यताओं के इतिहास के सभी आधुनिक लेखक सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए नागरता को अनिवार्य मानते हैं और यह भी देखा जा सकता है कि हमारा सम्पूर्ण शिक्षित वर्ग 'वैज्ञानिक' शब्द को युक्ति–सम्मतता और सांस्कृतिकता का पर्याय मानता है और तकनीकी विकास को 'प्रगति' का पर्यायवाची मानता है। यों पुराकाल में भी 'ग्राम्य' शब्द का प्रयोग 'मूढ़' के पर्यायवाची के रूप में होता था और 'नागर' शब्द का 'परिष्कृत' के पर्यायवाची के रूप में। किन्तु विचार की इस दिशा में यह भुला दिया जाता है कि न वेद और उपनिषद् नागर सभ्यता की देन थे और न कबीर, नानक,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तुलसी और सूर आदि ही नागर सभ्यता की देन थे। सुकरात और प्लेटो के होने के लिए भी नागर सभ्यता अनिवार्य नहीं थी। गाँधीजी जब सत्य और अहिंसा–परायण समाज के लिए ग्राम की बात करते हैं तब उनकी दृष्टि में ऐसा ही अन्तःप्रकाशित समाज है, इसी से वे 'कल्पना के ग्राम' की बात करते हैं, तत्कालीन अविकसित ग्राम की नहीं। निश्चय ही भारत में सभ्यता का विकास तो मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य में ही हुआ, किन्तु वह हिंसा और अन्य लोक–साधारण उपायों से ही हुआ और सत्य वहाँ ब्राह्मणों के माध्यम से ही चरितार्थ किया गया। दर्शन, शास्त्र, कला और शिल्प का विकास ऐसे साम्राज्यों में ही विशेष हुआ। आत्मा को पाने की यह भी एक दिशा है, इसी दिशा में आगे विज्ञान और तकनीकी भी आते हैं, केवल इस अन्तर के साथ कि इनमें आकर आत्मा प्रायः पूर्णतः देह और इन्द्रियों से तदात्म हो जाती है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि सभ्यता के नागर विकास के बिना आभ्यन्तर अर्थों के विकास की सम्भावना चरितार्थ हो ही, यह आवश्यक नहीं है, उससे भी अधिक सम्भावना इस बात की रहती है कि बाह्यार्थों के विकास से वंचित जन आन्तर अर्थों के विकास से भी वंचित रहें। अधिकांश विकसित संस्कृतियों में ग्राम इसी अविकास के उदाहरण हैं, स्वयं हमारे देश में भी 'ग्राम्य' शब्द इसी बात की ओर संकेत करता है। इसी से जब गाँधी जी ने ग्राम की बात की तब उस ग्राम की बात नहीं की जो हमारे देश में उपलब्ध था बल्कि 'कल्पना के ग्राम' की बात की, उस ग्राम की जिसमें मनुष्य बाह्यार्थों के अन्वेषण में अपनी चरितार्थता नहीं देखता बल्कि आंतरिक अर्थों के अन्वेषण में देखता है।

IV

किन्तु तब यहाँ अनेक व्यावहारिक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। सबसे पहला और प्रमुख प्रश्न तो यही है कि ऐसा समाज उन दूसरे समाजों से अपनी रक्षा कैसे कर पायेगा जो बाह्यतः समृद्ध और इस प्रकार शक्तिशाली हैं, अथवा जो भीतर–बाहर दोनों ओर से विपन्न हैं किन्तु आसुरी शक्ति से सम्पन्न हैं ?अतीत में संस्कृति में समुन्नत प्रायः सभी जातियाँ उन बाह्य आक्रान्ताओं से परास्त होती रही हैं जो सांस्कृतिक रूप से अविकसित थे। हमारा देश तो इसका ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है। आज तो परिस्थिति और भी विकट है, आज सारा संसार यातायात और सम्प्रेषण–यंत्रों के चामत्कारिक विकास से बहुत कुछ एक समाज और एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाजार जैसा हो गया है, जो समाज और बाजार केवल जंगल के नियमों से नियन्त्रित है। गाँधी जी का सपना था कि भारत में ग्राम–समाज के रूप में एक वास्तविक मानवीय सभ्यता की प्रतिष्ठा कर सकेंगे और उसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व में उस सभ्यता का प्रवर्त्तन कर सकेंगे। किन्तु वे अपनी इस सोच में वास्तविकता से बहुत दूर थे। पाश्चात्य सभ्यता में जो विष–बीज यांत्रिकी–प्रौद्योगिकी के रूप में अंकुरित हो गया था और गाँधी जी ने जिसके फलों के रूप–गुण का सम्यक् रूप से अनुमान कर लिया था उसे जड़ से ही उखाड़ने का उपाय तो वही था जो गाँधी जी करना चाहते थे, किन्तु वह उपाय नितान्त अव्यावहारिक था। क्योंकि मनुष्य की जो प्रकृति है उसके रहते, और संसार की जो तत्कालीन परिस्थिति थी उसके रहते, इतिहास की गति को ग्राम–सभ्यता की दिशा में आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। यदि किसी प्रकार हम अपने देश में वैसा करने में सफल हो भी पाते तो अन्य देशों में वह कर पाना सम्भव नहीं था और उसके बिना हमारे देश में भी वह टिका नहीं रह सकता था। इसके अतिरिक्त, मानव–प्रकृति के वैसा रहते जैसी वह है, हमारे देश में भी उसकी स्थायिता सम्भव नहीं थी। अतीत में मनुष्य को अपने स्वरूप की ओर उन्मुख करने के अनेक प्रयत्न हुए और मानवसमाज ऐसे मार्गदर्शकों की प्रेरणा से उस दिशा में उन्मुख होता भी रहा, किन्तु प्रेरणा–स्रोत के हट जाने के बाद वह पुनः अपनी पहली दशा में ही लौट आता रहा। गाँधी जी के तो अपने जीवनकाल में ही उनके कम से कम राजनीतिक सहयोगियों ने ही उनकी मूल्य–दृष्टि को स्वीकार नहीं किया और उनके स्वयं के द्वारा चुने गए उत्तराधिकारी ने उन्हें सबसे अधिक मूलगामी रूप में अस्वीकार किया। ऐसे में उन विषाक्त फलों का फलना तो स्वाभाविक ही था जो फले, और हमारा उस अंधे कुएँ में गिरना भी अनिवार्य था जिसमें आज हम आ पड़े हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारा इस गर्त में गिरना हमारी अनिवार्य नियति थी। ग्राम–समाज की ओर यथावत् अग्रसर होना सम्भव नहीं होने पर भी हम उस मूल्य–दृष्टि को अपना आदर्श रख सकते थे। आखिर महात्मा गाँधी भारत में इसी युग में हुए थे और वे केवल एक व्यक्ति ही नहीं थे बल्कि उस तत्त्व के एक द्रष्टा भी थे जो सनातन भारत का तत्त्व है। इसी युग में वह तत्त्व रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, श्री अरविन्द आदि अन्य अनेक महात्माओं में भी उपाधि–भेद से भास्वर देखा जा सकता है। गाँधीजी उसी तत्त्व की एक व्यापकतर अभिव्यक्ति थे। गाँधीजी ने उस तत्त्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को जो राजनीतिक सन्दर्भ में व्यवहार का रूप दिया उसी में उनका अद्भुत नावीन्य और सृजनात्मकता थी, अन्यथा तो वह सनातन भारत का ही तत्त्व था। जैसा कि हमने पीछे कहा, इस तत्त्व के इस रूप के काल–भेद से भिन्न लक्षण सम्राट् अशोक में भी देखे जा सकते हैं। यदि व्यवहार के अनुरोध से उस तत्त्व की गाँधी–दृष्टि में कुछ संशोधन की आवश्यकता थी तो उसमें यथोचित संशोधन करना उनके उत्तराधिकारियों का काम था। यों स्वयं गाँधी जी ही अपनी दृष्टि के व्यवहार में निरन्तर संशोधन करते रहे थे। उदाहरणतः वे क्रमशः यंत्रों को उस सीमा तक स्वीकार करने को राजी थे जिस सीमा तक वे मनुष्य के उपकरण रहें। जिस सीमा के आगे मनुष्य उनका उपकरण होने लगे केवल वहाँ ही वे उन्हें स्वीकृति देने को राजी नहीं थे। यों भी आखिर किसी यंत्र का विरोध कैसे हो सकता है ? विरोध तो उस अभिवृत्ति या मानसिकता का ही हो सकता है जो इन यंत्रों के साथ आती है। यंत्र आत्मा का ही बाह्यार्थ है। देहात्म के अनुरोध के बाह्यार्थों में आत्मा का विस्तार यंत्रों की दिशा में होना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। आखिर आत्मा एक से अनेक भी अपने बाह्याक्षेप से ही हुआ और इससे इस जगत् का आविर्भाव हुआ। किंतु यह आत्मा बाह्य अर्थों में अपनी सम्पन्नता का लाभ करे, अपने को चरितार्थ करे, यह तो प्रेय का श्रेयात्मक रूप हो सकता है, किंतु बाह्य अर्थों में आत्मा आत्मविमुख होने लगे और इस प्रकार विपन्न हो जाये, यह भयावह है। यदि हम इस खतरे को सम्यक् रूप से समझ कर यंत्र को बाह्य जीवन की बाध्यताओं के रूप में अपनाते तब इस विमुखता से बहुत कुछ बच सकते थे। किंतु हमने राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ आत्मा का उद्धार आत्मवैमुख्य में ही देखा। इसी का यह परिणाम है कि हम आज सुन्द और उपसुन्द के वंशजों जैसे हो रहे हैं, ऋषियों के या राम के वंशजों जैसे नहीं। दूसरी आधारभूत बात यह है कि आज हम उस सनातन भारत को ही अस्वीकार कर रहे हैं, गाँधी जी ने जिसका साक्षात्कार किया था और जो अन्तःसलिला के समान हमारे जातीय जीवन को सौ संकटों के बीच भी बचाये हुए है। उसे हम साम्प्रदायिकता–धर्मांधता आदि कह रहे हैं और यह केवल अज्ञानवश नहीं बल्कि स्वार्थ और झूठ के वश ही कह रहे हैं, इस कारण हमारी चेतना के और गहरे अंध तमस से आवृत्त होने की आशंका होती है। तीसरी, और भी भयानक बात यह है कि किसी भी मनुष्य के आत्म–लाभ के लिए या व्यक्ति होने के लिए जो पहली शर्त है – आत्मसम्मान, निज के धर्म–स्वभाव में प्रतिष्ठा, अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 31, अंक 1 जनवरी—जून, 2017

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह**, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी**, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह**, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा**, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. **यशदेव शल्य**, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 0141–2707493
2. **मुकुन्द लाठ**, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302019 दूरभाष 0141–2294727/2293725

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा**, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे**, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)
Reconised by University Grant Commission

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श — 5
   यशदेव शल्य

2. भारतीय मानस का वि–औपनिवेशीकरण : प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की कार्ययोजना — 20
   अम्बिकादत्त शर्मा

3. महिषासुर विमर्श की इतिहास–दृष्टि : शम्बुक का द्राविड़ प्राणायाम — 44
   अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र

4. न्यायशास्त्रीय प्रमाण–लक्षण का द्वितीय प्रस्थान : जयन्त भट्ट का सामग्रीकारणतावाद — 67
   अरूण मिश्र

5. ज्ञानश्रीमित्र प्रणीत साकारसिद्धिशास्त्र का प्रथम अध्याय : निराकार–निराकरण — 101
   बृजकिशोर त्रिपाठी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. *यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- हैं। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श *

यशदेव शल्य

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष अपने इतिहास में अनेक जातियों, सभ्यताओं या संस्कृतियों को करने पड़े हैं, किन्तु उन संघर्षों में उनके द्वारा स्वयं स्वतंत्रता को ही एक साध्य–मूल्य के रूप में देखा गया, उसमें किसी और मूल्य के निक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठा। इसी प्रकार यह प्रश्न हमारे देश के स्वतंत्रता संग्राम के क्रम में भी नहीं उठा होता। 'स्वतंत्रता अपने आप में साध्य हैं यह प्रतिज्ञप्ति इतनी स्वतः प्रमाण मानी जाती है कि जब महात्मा गाँधी ने इस साध्य के लिए अपनाये जाने वाले साधनों के भी समान रूप से उचित होने की बात की तब विवाद का विषय यही रहा कि उचित साध्य को किन्हीं भी साधनों से सिद्ध करना उचित है या कि साधनों के औचित्य का ध्यान रखना भी उतना ही आवश्यक है ? स्वयं स्वतंत्रता की साध्यता के औचित्य में तब भी किसी ने कभी संदेह व्यक्त नहीं किया। किंतु गाँधीजी ने न केवल साध्यभूत स्वतंत्रता के लिए साधनों के औचित्य को भी उतना ही आवश्यक माना जितना साध्य स्वतंत्रता को माना, बल्कि स्वयं स्वतंत्रता को भी निरपेक्ष साध्य मूल्य के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे एक सापेक्ष साध्य के रूप में ही देखा। गाँधीजी ने भारत की स्वतंत्रता को भारत की अपने स्व में प्रतिष्ठा के रूप में देखा था, जिसमें राजनीतिक पराधीनता अनेक में से केवल एक बाधक थी। स्वतंत्रता–संग्राम विषयक इस दृष्टि के द्रष्टा और इसका सर्वभावेन अनुसरण करने वाले केवल वे ही थे। इसके प्रमाण के रूप में हम रोम्यां रोलां की डायरी (17.1.1924) से एक उद्धरण देना चाहेंगे। चौरीचौरा के आन्दोलन में हिंसा हो जाने के बाद गाँधीजी द्वारा वह आन्दोलन बंद कर दिया गया था। पर रिचर्ड नामक एक अंग्रेज ने, जो अहिंसा का अन्यथा समर्थक था किन्तु उसे राजनीतिक व्यवहार का आधार बनाने के पक्ष में नहीं

*चम्पारण सत्याग्रह, की 100 वीं वर्षगांठ और भारत छोड़ो आन्दोलन की75 वीं वर्षगांठ के अवसर पर इस आलेख का पुनः स्मरण (सम्पादक)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

था, उनसे पूछा, "मान लें कि इंग्लैंड में सशस्त्र विद्रोह भड़क उठता है और उससे आपके देश की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है, तब आप क्या करेंगे ?" गाँधी जी ने इसका उत्तर दिया, "तब मैं उस विद्रोह को रोकने का प्रयत्न करूंगा।" रोम्या रोलां इसके आगे लिखते हैं, "तब इस क्रम में तिलक से मतभेद की बात करते हुए गाँधी जी ने यह स्वीकार किया कि तिलक ने यह स्पष्टतः कहा है कि वे सत्य के ऊपर अपने देश की स्वतंत्रता को चुनेंगे जबकि वे (गाँधीजी) स्वतंत्रता के ऊपर सत्य को चुनेंगे।"[1] आगे 28 जुलाई 1924 को डायरी में वे लाला लाजपतराय के सम्बन्ध में लिखते हैं, "वे एकमात्र भारतीय राजनीतिक नेता हैं जो गाँधीजी को परामर्श देने की स्थिति में हैं और गाँधीजी जिनकी बात सुनते हैं, जो दास (चितरंजन दास) के अतिरिक्त एकमात्र प्रथम कोटि के भारतीय नेता हैं, या शायद दास से भी प्रथम हैं। किन्तु जहाँ तक मैं देख सकता हूँ, उनका मानस शुद्ध रूप से राजनीतिक स्तर पर ही क्रियाशील है। यदि उन्होंने गाँधी जी के अहिंसक प्रतिरोध के सिद्धान्त को स्वीकार किया है तो वह केवल राजनीतिक कारणों से ही किया है। लाजपतराय जेल से आने के बाद गाँधी जी के इस विचार से पूर्णतः असहमत हैं और कहते हैं कि यदि वे अपना विचार नहीं छोड़ते हैं तो उन्हें (लाजपतराय को) उनसे अलग होना पड़ेगा।" रोम्या रोलां की डायरी से ये उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि स्वतंत्रता–संग्राम में जो मूल्य–दृष्टि गाँधी जी की थी वह अन्य किसी की नहीं थी, क्योंकि तिलक और लाजपतराय को निस्संकोच रूप से महात्मा गाँधी से इतर सभी तत्कालीन राजनीतिक नेताओं का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। दूसरी ओर महात्मा गाँधी को सब समयों और देशों के राजनेताओं में एक अपवाद कहा जा सकता है। व्यक्तिगत जीवन में नितान्त असाधारण और साक्षात्कारी मूल्य–दृष्टि वाले, और उस दृष्टि के अनुसार देह से मनस् पर्यन्त अपने सत्व को ढालने वाले तो संसार के इतिहास में और भी कुछ महात्मा मिल जाएंगे, किंतु संधि, विग्रह, यान, आसन, संशय, द्वैधीभाव की आचार–नीति से परिभाषित राजनीति के सार्वजनिक जीवन को भी धर्म–दृष्टि के अनुसार ढालने वाला उनके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं मिलेगा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाँधी जी को मूर्त सत्य कहा है और उनकी तुलना महात्मा बुद्ध से की है, किन्तु सत्य–जीवन को राजनीतिक व्यवहार का भी मेरुदण्ड बनाने के कारण गाँधी जी से बुद्ध की तुलना भी नहीं की जा सकती। गाँधी–दृष्टि का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ व्यक्तिगत ही नहीं सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार को भी पूर्ण रूप से सत्य के अधीन कर देना है, जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। बुद्ध ने परमार्थान्वेषण की दृष्टि से आर्यजन और पृथग्जन में भेद किया है और व्यवहार–जगत् को पृथग्जन के लिए छोड़ दिया है। राजनीति तो व्यवहार–जगत् में भी निम्नतम स्तर पर आती है। किन्तु गाँधी जी ने व्यवहार को भी परमार्थ का विषय बना दिया।

इस आधार पर से ही महात्मा गाँधी की दृष्टि के और पक्ष भी समझे जा सकते हैं। उनके द्वारा आधुनिक यांत्रिकी का ही अस्वीकार नहीं बल्कि नागर सभ्यता मात्र का ही अस्वीकार उनकी इसी दृष्टि का अंग है। इस शताब्दी के आरम्भ में ही लिखे हिन्द–स्वराज्य के लेखों में उन्होंने यूरोपीय यांत्रिक–वैज्ञानिक सभ्यता को मूल से ही अस्वीकार किया था[3], किन्तु अक्टूबर 1945 में पं. जवाहरलाल नेहरू को लिखे एक पत्र में उन्होंने पुनः लिखा, "मेरा विश्वास है कि यदि भारत को सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी है और उसके माध्यम से संसार को भी स्वतंत्र्य–लाभ करना है[3] तब देर या सबेर इस तथ्य को स्वीकार करना अनिवार्य होगा कि लोगों का गाँवों में रहना ही उचित है, नगरों में नहीं, झोपड़ियों में रहना ही उचित है, महलों में नहीं ... ।

"मेरा विश्वास है कि सत्य तथा अहिंसा के बिना मनुष्य का विनाश अनिवार्य है और सत्य तथा अहिंसा को हम ग्राम–जीवन की सरलता में ही साध सकते हैं और ग्राम–जीवन की यह सरलता सही रूप में चरखे के द्वारा और उस भाव के द्वारा ही, जिसे यह प्रतीक व्यक्त करता है, सम्भव हो सकता है।"[4]

यहाँ उस स्पष्टीकरण का उल्लेख आवश्यक है जो महात्मा गाँधी ने इसी पत्र में आगे दिया है, कि 'ग्राम' से उनका आशय वर्तमान भारतीय ग्राम से नहीं है जिसमें अशिक्षा, जहालत, अस्वास्थ्य और गंदगी है बल्कि उस कल्पना के ग्राम से है जिसमें शिक्षा, जागरूकता और स्वस्थ्य तथा स्वच्छ वातावरण होगा। इस पत्र के उत्तर में नेहरू जी ने स्वतंत्र भारत की अपनी अवधारणा लिखी। नेहरू जी की अवधारणा आधुनिक, नागर तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकीय रूप से समुन्नत और संसार के अन्य देशों के साथ कदम मिला कर चलने वाले भारत की थी। स्पष्टतः वह अवधारणा पूर्णतः व्यावहारिक थी, ऐसी जिसमें युग–परिस्थिति और मानव–स्वभाव का ध्यान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रखा गया था। निश्चय ही प्राप्त वस्तुस्थिति और प्राप्य आदर्श के बीच अन्तर की, और इस प्रकार मूल्य की बात उनके पत्र में भी थी, किन्तु वह मूल्य व्यवहार–सम्मत और इतिहास–सम्मत था, परमार्थ–सम्मत नहीं। इसी पत्र में, जैसे अन्य सब जगह भी, गाँधी जी ने 'स्वतंत्रता' शब्द के साथ 'सच्ची' विशेषण का प्रयोग भी अनिवार्य रूप से किया है और भारत की इस स्वतंत्रता को विश्व–मानव के स्वातंत्र्य का प्रवर्तक कहा है। जिसका अर्थ है कि वे भारत की केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की बात नहीं कर रहे थे बल्कि उस समग्र स्वतंत्रता की बात कर रहे थे जिसमें आत्मा की निर्मलता केन्द्रीय है, जिस स्वतंत्रता से परतंत्र भारत से भी अधिक दूसरे स्वतंत्र देश दूर थे। इसी कारण महात्मा गाँधी केवल भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के ही नायक नहीं थे, बल्कि अन्य देशों के असंख्य प्रबुद्ध लोगों के लिए भी प्रेरणा–स्रोत थे। यह इस बात सें देखा जा सकता है कि रोम्या रोलां द्वारा 1922–23 में लिखी महात्मा गाँधी की जीवनी के यूरोप और रूस की प्रायः सभी भाषाओं में तुरन्त अनुवाद हो गए और उन सबके अनेक संस्करण और आवृत्तियाँ प्रकाशित हुईं। किन्तु यह भी सत्य है कि भारत में उनके राजनीतिक सहयोगियों में किसी को वह दृष्टि उपलब्ध नहीं थी, सम्भवतः अब्दुल गफ्फार खां के अतिरिक्त और न भारतीय जन–समुदाय की चेतना ही उस दृष्टि से प्रकाशित थी। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि तब भी वे भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के केवल अनेक में से एक नायक नहीं थे बल्कि एक तरह से एकमात्र नायक थे, अन्य लोग उनके सहयोगी मात्र थे। ऐसा सम्भवतः इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि उन्होंने अपने को वास्तविक भारतीय जन की आदर्श प्रतिमा में ढाला, भारत के दीन, दुःखी, दरिद्र जन ने उनमें अपने नारायणीय अवतार को पाया। यदि वे भारतीय राजनीतिक मंच पर नहीं उतरे होते तो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम का रूप केवल मध्य वर्ग के असंगठित विद्रोह का ही रहा होता, एक व्यापक और अभूतपूर्व प्रकार की जन–क्रांति का रूप उसका नहीं होता।

किन्तु यह परिस्थिति भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम को एक विरोधाभास पूर्ण भी बना देती है। गाँधी जी जबकि परमार्थ सत्य के अन्वेषी थे, जो सत्य न उनके किसी राजनीतिक सहयोगी को गम्य था और न ही भारतीय जनमानस को, तब भी वे ऐसे एकमात्र राजनीतिक नेता थे जो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के नायक थे और अन्य सब उनके पीछे चलने को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवश थे। भारतीय जनमानस के दूसरे पक्ष का, जिसे इसका लौकिक–व्यावहारिक पक्ष कहा जा सकता है, दूसरे नेता प्रतिनिधित्व कर रहे थे और इसके एक बहुत लघु किन्तु शासक वर्ग द्वारा संरक्षित और प्रवर्द्धित वर्ग का, जो विश्वविद्यालयों में शिक्षित था और जिसके आचार और विचार का परम आदर्श पश्चिम था, उसका प्रतिनिधित्व नेहरू जी कर रहे थे। किन्तु तब भी ये सब उस गाँधी के आगे विवश थे जिसमें भारत की सनातन चेतना मूर्त हुई थी और इस प्रकार जिसे नहीं समझ कर भी सब उसके पीछे चलने को विवश थे। भारतीय परिस्थिति के इस विरोधाभास को गाँधीजी जानते थे और शायद वे अकेले ही इस बात को जानते थे। इसीलिए बार–बार उस स्वतंत्रता के सम्बन्ध में देश को चेताते रहते थे जो केवल गोरे साहिबों के स्थानान्तरण के रूप में हमारे हाथ लगने वाली थी।

किन्तु तब यहाँ एक और बहुत बड़ी पहेली रह जाती है, रहस्यों का रहस्य, कि इसी पारदृष्टि वाले गाँधी जी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में उस नेहरू को ही क्यों चुना[5] जो उनके सब सहयोगियों से अधिक यूरोपाभिभूत थे? स्वतंत्रता के बाद अपने यूरोपीय उत्तराधिकार को स्वयं नेहरू जी ने अत्यन्त सटीक रूप में और सगर्व स्वीकार करते हुए एक अमरीकी राजदूत गैल्ब्रैथ से कहा था, "मैं भारत का अन्तिम ब्रिटिश शासक हूँ।"[6] वस्तुतः वे सचमुच में वही थे और इस कारण ब्रिटिशों से कहीं अधिक घातक कि वे भारतीय खाल में थे। शायद ऐसा कहना बहुत अधिक होगा कि कहीं गहरे में महात्मा गाँधी स्वयं भी अपनी मूल्य–दृष्टि की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में संदेहशील थे। यह बात और किसी प्रकार से समझ में नहीं आती। अन्यथा उनके द्वारा सभी अर्थों में एक भूरे यूरोपीय को स्वतंत्र भारत के नेतृत्व के लिए मूर्धाभिषिक्त करने का क्या औचित्य हो सकता था ? या कि इसका कारण भारत की जन्मपत्री में कहीं खोजना चाहिए ?

II

ऊपर की चर्चा में मूल्यविषयक एक दृष्टि पूर्वगृहीत है। उस चर्चा को आधार देने के लिए उस दृष्टि को यहाँ वे स्पष्ट करना आवश्यक है। इसके लिए सर्वप्रथम मूल्य का स्वरूप समझना आवश्यक है और दूसरा, किन्तु प्रथम से अवियोज्य रूप से सम्बद्ध प्रश्न मूल्य के कर्म में निर्वाह का है।

अब, मूल्य क्या है ?साधारणतः किसी भी इच्छा–विषय अथवा प्राप्त लक्ष्य को मूल्य कहा जाता है। 'प्रत्येक व्यक्ति के अपने मूल्य होते हैं', 'मूल्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति–सापेक्ष होते हैं' ये आज बहुत प्रचलित धारणाएँ हैं और इन दोनों में यही पूर्वगृहीत है। किन्तु हम यह भी विमर्श करते हैं कि कौन–सा इच्छा–विषय मूल्य होने के योग्य है और कौन–सा इस योग्य नहीं है। यों योग्यता का यह प्रश्न मूल्य को इच्छा से पृथक् कर एक वस्तुनिष्ठ सन्दर्भ दे देता है किन्तु तब भी ये सन्दर्भ देश, काल, पात्र की सापेक्षता ले लेते हैं। 'आज मूल्यों में परिवर्तन हो रहा है' इस कथन में देश–काल–संदर्भ की सापेक्षता में रुचियों और विचारों को 'मूल्य' पद के वाचक के रूप में देखा जा रहा है। मूल्य–विषयक इस दृष्टि को स्वीकार करने पर मनुष्य के साध्य के निर्णय में तटस्थ विचार और विवेक का कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु यह नहीं रहने पर मूल्य–विमर्श की बात करना ही निरर्थक हो जाता है और न तब उचित–अनुचित का ही कोई अर्थ रह जाता है। यों आज एक बहुत बड़ा दार्शनिक समुदाय है, और आज का बहुमत उसी का अनुयायी है, जो साध्य–निर्णय या उचित–अनुचित–विवेक का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं मानता। किन्तु हमारा विश्वास है कि 'उन्मीलन' पत्रिका के सुधी जन अधिकांश पाठक उस समुदाय के भाग नहीं हैं, अथवा यह चर्चा यहीं बन्द कर देनी पड़ती, क्योंकि यहाँ इस मूल प्रश्न पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता कि मूल्य कैसे वस्तुनिष्ठ विमर्श के विषय हैं।[7] सो, यहाँ हम इस सम्बन्ध में उन्मीलन के पाठकों से सहमति मान कर 'मूल्य' को परिभाषित करने का प्रयत्न करेंगे। यह परिभाषा हो सकती हैं "आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता की सिद्धि"। किन्तु इस पर आपत्ति हो सकती है कि इस परिभाषा को सर्वसम्मत मान कर भी विवाद वहीं का वहीं रह जाता है, क्योंकि तब विवाद का विषय आत्मा का स्वरूप हो जाता है। सर्वप्रथम तो आज आत्मा की बात करना ही आदिम, या मध्ययुगीन, या असैक्युलर मनोवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है, किन्तु इस आक्षेप को छोड़ भी दिया जाय तो 'आत्मा' तो पुत्र–कलत्र, देह, इन्द्रिय, भाव, विचार से लेकर ब्रह्म तक कुछ भी हो सकता है। जिससे भी आप अपना तादात्म्य स्थापित कर लें वही आत्मा है। अधिकांश में हमारा आत्मा हमारी देह और इन्द्रियाँ ही रहती हैं, अधिक ऊपर उठें तो भाव और विचार हमारे आत्मा–स्थानीय हो जाते हैं। किन्तु बहुतों को कभी, किन्हीं स्थितियों में, इनमें आत्मा के परत्व की झलक भी दृष्टिगोचर होती है, स्वयं आत्मा के अपने स्वरूप की झलक चाहे नहीं भी गोचर होती हो। किन्तु हम इस झलक पर अपना भाव अल्प

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काल के लिए भी स्थिर कर आत्मा के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त नहीं हो पाते। जो इस परत्व से मुक्ति का निरन्तर अनुसन्धान करते हैं उन्हीं को हम महात्मा कहते हैं। महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण जीवन इसका अनन्य–साधारण उदाहरण है। सामाजिक आदर्श के रूप में उनकी ग्राम–समाज की दृष्टि, भारत की स्वाधीनता के ऊपर सत्य की प्रतिष्ठा उनके इसी आत्म और अनात्म के तत्त्व–बोध से प्रेरित थी। उनका 'ग्राम–जीवन' से अर्थ इसी 'परत्व या अनात्म से मुक्त जीवन' से और 'सत्य' से अर्थ इसी 'आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता' से था, जैसा कि उनके 'सत्य' और 'ईश्वर' को पर्यायवाची शब्द कहने से स्पष्ट है। 'सत्य' का साधारण अर्थ है 'कथन का कथ्य के अनुरूप होना।' किन्तु जब 'सत्य' को 'ईश्वर' के पर्यायवाची के रूप में देखा जाता है तब उसका एक ही अर्थ हो सकता है – आत्मा का अपने स्वरूप के अनुरूप होना। अब 'सत्य' का यह अर्थ होने पर देश की स्वतंत्रता सत्य के ऊपर कैसे प्रतिष्ठा पा सकती है ?क्योंकि सत्य को नकार कर तो स्वतंत्रता ही नकारी जाएगी – यदि स्वतंत्रता 'स्व की अपने तंत्र में प्रतिष्ठा, स्व की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा' है तो ! अब, गाँधी जी के इस कथन की एक प्राचीन श्लोक में प्रतिध्वनि देखें –

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्,
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे सर्वं त्यजेत्।

वास्तव में यदि हम देश की स्वतंत्रता को सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित कर देंगे तो किसी भी तर्क से देश की स्वतंत्रता को अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। इसलिए, जब हम देश को अपने से ऊपर रखने की श्रेष्ठता की बात करते हैं तब सत्य के तर्क को केवल अंशतः ही देखते हैं, क्योंकि तब देश भी एक विस्तृततर स्वार्थ, विस्तृततर अहंकार ही हो जाता है। गाँधी जी की यही दृष्टि नागर जीवन में परोन्मुखता और ग्राम–जीवन में परत्व से निवृत्ति देखने के पीछे भी थी। नेहरू जी ने अपने पत्र में इसके विरुद्ध ग्रामजीवन में चेतना और संस्कृति के अविकसित रहने की और नागर जीवन में इसके विकास–लाभ करने की बात कही है। जिसका अर्थ है कि वे साहित्य, संगीत, विज्ञान और शास्त्र में और उससे भी अधिक प्रौद्योगिकी और व्यापार में आत्मा का स्वरूप–लाभ देखते हैं। नेहरू जी को छोड़ते हुए, यहाँ मूल्य–विषयक इन दो दृष्टियों की बात की जा सकती है और कहा जा सकता है कि गाँधी–दृष्टि जबकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत्प्रवृत्ति में आत्मा की अपने स्वरूप से विमुखता देखती है, नेहरू–दृष्टि जगत् ही में आत्मा का आत्मचरितार्थन देखती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति वास्तव में इस दूसरी दृष्टि की ही अनुसारी है और यह भी सही है कि सभ्यताओं और संस्कृतियों का विकास इस दूसरी दृष्टि से ही हो सकता है। इसमें पुरुषार्थ भी है – अर्थ और काम–मूलक अर्थों में आत्मा का अनुसन्धान। किन्तु जैसा कि गाँधी जी ने देखा, इसमें हिंसा और असत्य से मुक्ति नहीं है, बल्कि इनका आश्रय इस विकास के लिए अनिवार्य–सा ही है। अपने इस पत्र के अन्त में नेहरू जी ने इसे स्वीकार भी किया है। वे कहते हैं, "आपका यह कहना सही है कि मनुष्य–जगत् अथवा इसका बहुत बड़ा भाग, आत्महत्या पर उतारू है। यह सभ्यता की भूमि में आ पड़े किसी विषबीज के अंकुरित और पल्लवित हो जाने का अनिवार्य परिणाम हो सकता है। हमारा प्रयत्न इसके घातक परिणामों से बचने का होना चाहिए।" किन्तु इन परिणामों से हम और संसार की दूसरी सभ्यताएँ कहाँ तक बच पायी हैं और इनके बचने की क्या सम्भावनाएँ हैं, यह हम देख ही रहे हैं। स्वयं नेहरू जी ने इस विष–बीज के सम्बन्ध में जानते हुए भी इससे बचने के लिए कुछ करना तो दूर इसके प्रभाव को कम करने के लिए भी कोई प्रयत्न नहीं किया। या कि यह इस सभ्यता के विकास की गति का ही अनिवार्य तर्क है कि इससे बचना असम्भव है, अन्यथा नेहरू जी की सदाशयता में तो किसी को संदेह नहीं हो सकता।

III

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने जो देखा वह ऐसा कुछ नहीं था जो पहले किसी ने नहीं देखा था। वास्तव में हमारे यहाँ कलियुग की कल्पना के रूप में यह दृष्टि स्पष्ट विद्यमान थी, सम्राट् अशोक में राजनीति को सत्य और अहिंसा में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि भी दिखायी देती है, किन्तु सत्य और अहिंसा से सम्पूर्ण जनमानस का इस्पातीकरण और गोलियों का मुकाबला खाली छाती से करना और उसे युद्ध–कौशल[8] का रूप दे देना, यह इस देश को और इस देश के माध्यम से सम्पूर्ण संसार को सतयुग में लौटा ले चलने का ऐसा हठ था जिसमें गाँधी–दृष्टि की अपूर्वता थी। वे इसमें बुरी तरह असफल रहे, यह हम देख ही सकते हैं, यद्यपि यह सही है कि यदि स्वतंत्रता के अवसर पर देश की बागडोर नेहरू जी के बजाय सुभाष या पटेल जैसे किसी व्यक्ति के हाथ में आयी होती तो सम्भव है हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस अनिवार्य असफलता के बावजूद इतने गहरे और इतने गंदे गर्त में नहीं गिरे होते जिसमें हम नेहरू जी के कारण गिरे। नेहरू जी के कारण हम अतिरिक्त गहराई में गिरे, इसका कारण हमारा जातीय स्वभाव को छोड़कर परभाव का अनुकरण था। दूसरे, नेहरू जी ने भाखड़ा–नंगल और सिंद्री आदि परियोजनाओं को मंदिर ही घोषित कर दिया और इस प्रकार केवल अर्थ और काम को ही, धर्म और मोक्ष से नितांत विमुखता के साथ, हमारा पुरुषार्थ बना दिया। निश्चय ही इसमें केवल नेहरू जी को दोष देना अनुचित होगा, क्योंकि नेहरू जी दूसरों के सहयोग के बिना और देश के उस वर्ग के सहयोग के बिना जो वर्ग शक्तिपीठों के निकट था, अकेले ही यह नहीं कर सकते थे। किंतु वे देश में कलियुग के कुरूपतम रूप के अवतरण में नायक अवश्य बने। उदाहरणतः उन्होंने हमारी चेतना का जिस प्रकार पश्चिमीकरण और लोकायतीकरण किया, उन्होंने जिस प्रकार शिक्षा–क्षेत्र की उपेक्षा क्री, वह सब उन्हीं की विशिष्ट देन है।

ऊपर उद्धृत पत्र में नेहरू जी ने गाँधी जी के ग्राम–आधारित समाज के विचार का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा, "मुझे यह बात समझ में नहीं आयी कि क्यों सत्य और अहिंसा का वास ग्राम में ही सम्भव है। साधारणतः ग्राम बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े ही होते हैं और एक पिछड़े हुए वातावरण में प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। संकुचित मानसिकता वाले लोगों के असत्य और हिंसा–परायण होने की सम्भावना अधिक होती है।"... पत्र में आगे उन्होंने आज के युग में किसी देश के सांस्कृतिक रूप से (और सत्य में प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी (?)) उन्नत होने के लिए उसका तकनीकीय और वैज्ञानिक दृष्टि से उन्नत होना आवश्यक बताया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नेहरू जी भी कोई नयी बात नहीं कर रहे थे। सभ्यताओं के इतिहास के सभी आधुनिक लेखक सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए नागरता को अनिवार्य मानते हैं और यह भी देखा जा सकता है कि हमारा सम्पूर्ण शिक्षित वर्ग 'वैज्ञानिक' शब्द को युक्ति–सम्मतता और सांस्कृतिकता का पर्याय मानता है और तकनीकी विकास को 'प्रगति' का पर्यायवाची मानता है। यों पुराकाल में भी 'ग्राम्य' शब्द का प्रयोग 'मूढ़' के पर्यायवाची के रूप में होता था और 'नागर' शब्द का 'परिष्कृत' के पर्यायवाची के रूप में। किन्तु विचार की इस दिशा में यह भुला दिया जाता है कि न वेद और उपनिषद् नागर सभ्यता की देन थे और न कबीर, नानक,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तुलसी और सूर आदि ही नागर सभ्यता की देन थे। सुकरात और प्लेटो के होने के लिए भी नागर सभ्यता अनिवार्य नहीं थी। गाँधीजी जब सत्य और अहिंसा–परायण समाज के लिए ग्राम की बात करते हैं तब उनकी दृष्टि में ऐसा ही अन्तःप्रकाशित समाज है, इसी से वे 'कल्पना के ग्राम' की बात करते हैं, तत्कालीन अविकसित ग्राम की नहीं। निश्चय ही भारत में सभ्यता का विकास तो मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य में ही हुआ, किन्तु वह हिंसा और अन्य लोक–साधारण उपायों से ही हुआ और सत्य वहाँ ब्राह्मणों के माध्यम से ही चरितार्थ किया गया। दर्शन, शास्त्र, कला और शिल्प का विकास ऐसे साम्राज्यों में ही विशेष हुआ। आत्मा को पाने की यह भी एक दिशा है, इसी दिशा में आगे विज्ञान और तकनीकी भी आते हैं, केवल इस अन्तर के साथ कि इनमें आकर आत्मा प्रायः पूर्णतः देह और इन्द्रियों से तदात्म हो जाती है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि सभ्यता के नागर विकास के बिना आभ्यन्तर अर्थों के विकास की सम्भावना चरितार्थ हो ही, यह आवश्यक नहीं है, उससे भी अधिक सम्भावना इस बात की रहती है कि बाह्यार्थों के विकास से वंचित जन आन्तर अर्थों के विकास से भी वंचित रहें। अधिकांश विकसित संस्कृतियों में ग्राम इसी अविकास के उदाहरण हैं, स्वयं हमारे देश में भी 'ग्राम्य' शब्द इसी बात की ओर संकेत करता है। इसी से जब गाँधी जी ने ग्राम की बात की तब उस ग्राम की बात नहीं की जो हमारे देश में उपलब्ध था बल्कि 'कल्पना के ग्राम' की बात की, उस ग्राम की जिसमें मनुष्य बाह्यार्थों के अन्वेषण में अपनी चरितार्थता नहीं देखता बल्कि आंतरिक अर्थों के अन्वेषण में देखता है।

IV

किन्तु तब यहाँ अनेक व्यावहारिक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। सबसे पहला और प्रमुख प्रश्न तो यही है कि ऐसा समाज उन दूसरे समाजों से अपनी रक्षा कैसे कर पायेगा जो बाह्यतः समृद्ध और इस प्रकार शक्तिशाली हैं, अथवा जो भीतर–बाहर दोनों ओर से विपन्न हैं किन्तु आसुरी शक्ति से सम्पन्न हैं ?अतीत में संस्कृति में समुन्नत प्रायः सभी जातियाँ उन बाह्य आक्रान्ताओं से परास्त होती रही हैं ज़ो सांस्कृतिक रूप से अविकसित थे। हमारा देश तो इसका ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है। आज तो परिस्थिति और भी विकट है, आज सारा संसार यातायात और सम्प्रेषण–यंत्रों के चामत्कारिक विकास से बहुत कुछ एक समाज और एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाजार जैसा हो गया है, जो समाज और बाजार केवल जंगल के नियमों से नियन्त्रित है। गाँधी जी का सपना था कि भारत में ग्राम–समाज के रूप में एक वास्तविक मानवीय सभ्यता की प्रतिष्ठा कर सकेंगे और उसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व में उस सभ्यता का प्रवर्त्तन कर सकेंगे। किन्तु वे अपनी इस सोच में वास्तविकता से बहुत दूर थे। पाश्चात्य सभ्यता में जो विष–बीज यांत्रिकी–प्रौद्योगिकी के रूप में अंकुरित हो गया था और गाँधी जी ने जिसके फलों के रूप–गुण का सम्यक् रूप से अनुमान कर लिया था उसे जड़ से ही उखाड़ने का उपाय तो वही था जो गाँधी जी करना चाहते थे, किन्तु वह उपाय नितान्त अव्यावहारिक था। क्योंकि मनुष्य की जो प्रकृति है उसके रहते, और संसार की जो तत्कालीन परिस्थिति थी उसके रहते, इतिहास की गति को ग्राम–सभ्यता की दिशा में आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। यदि किसी प्रकार हम अपने देश में वैसा करने में सफल हो भी पाते तो अन्य देशों में वह कर पाना सम्भव नहीं था और उसके बिना हमारे देश में भी वह टिका नहीं रह सकता था। इसके अतिरिक्त, मानव–प्रकृति के वैसा रहते जैसी वह है, हमारे देश में भी उसकी स्थायिता सम्भव नहीं थी। अतीत में मनुष्य को अपने स्वरूप की ओर उन्मुख करने के अनेक प्रयत्न हुए और मानवसमाज ऐसे मार्गदर्शकों की प्रेरणा से उस दिशा में उन्मुख होता भी रहा, किन्तु प्रेरणा–स्रोत के हट जाने के बाद वह पुनः अपनी पहली दशा में ही लौट आता रहा। गाँधी जी के तो अपने जीवनकाल में ही उनके कम से कम राजनीतिक सहयोगियों ने ही उनकी मूल्य–दृष्टि को स्वीकार नहीं किया और उनके स्वयं के द्वारा चुने गए उत्तराधिकारी ने उन्हें सबसे अधिक मूलगामी रूप में अस्वीकार किया। ऐसे में उन विषाक्त फलों का फलना तो स्वाभाविक ही था जो फले, और हमारा उस अंधे कुएँ में गिरना भी अनिवार्य था जिसमें आज हम आ पड़े हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारा इस गर्त में गिरना हमारी अनिवार्य नियति थी। ग्राम–समाज की ओर यथावत् अग्रसर होना सम्भव नहीं होने पर भी हम उस मूल्य–दृष्टि को अपना आदर्श रख सकते थे। आखिर महात्मा गाँधी भारत में इसी युग में हुए थे और वे केवल एक व्यक्ति ही नहीं थे बल्कि उस तत्त्व के एक द्रष्टा भी थे जो सनातन भारत का तत्त्व है। इसी युग में वह तत्त्व रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, श्री अरविन्द आदि अन्य अनेक महात्माओं में भी उपाधि–भेद से भास्वर देखा जा सकता है। गाँधीजी उसी तत्त्व की एक व्यापकतर अभिव्यक्ति थे। गाँधीजी ने उस तत्त्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को जो राजनीतिक सन्दर्भ में व्यवहार का रूप दिया उसी में उनका अद्‌भुत नावीन्य और सृजनात्मकता थी, अन्यथा तो वह सनातन भारत का ही तत्त्व था। जैसा कि हमने पीछे कहा, इस तत्त्व के इस रूप के काल–भेद से भिन्न लक्षण सम्राट् अशोक में भी देखे जा सकते हैं। यदि व्यवहार के अनुरोध से उस तत्त्व की गाँधी–दृष्टि में कुछ संशोधन की आवश्यकता थी तो उसमें यथोचित संशोधन करना उनके उत्तराधिकारियों का काम था। यों स्वयं गाँधी जी ही अपनी दृष्टि के व्यवहार में निरन्तर संशोधन करते रहे थे। उदाहरणतः वे क्रमशः यंत्रों को उस सीमा तक स्वीकार करने को राजी थे जिस सीमा तक वे मनुष्य के उपकरण रहें। जिस सीमा के आगे मनुष्य उनका उपकरण होने लगे केवल वहाँ ही वे उन्हें स्वीकृति देने को राजी नहीं थे। यों भी आखिर किसी यंत्र का विरोध कैसे हो सकता है ? विरोध तो उस अभिवृत्ति या मानसिकता का ही हो सकता है जो इन यंत्रों के साथ आती है। यंत्र आत्मा का ही बाह्यार्थ है। देहात्म के अनुरोध के बाह्यार्थों में आत्मा का विस्तार यंत्रों की दिशा में होना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। आखिर आत्मा एक से अनेक भी अपने बाह्याक्षेप से ही हुआ और इससे इस जगत् का आविर्भाव हुआ। किंतु यह आत्मा बाह्य अर्थों में अपनी सम्पन्नता का लाभ करे, अपने को चरितार्थ करे, यह तो प्रेय का श्रेयात्मक रूप हो सकता है, किंतु बाह्य अर्थों में आत्मा आत्मविमुख होने लगे और इस प्रकार विपन्न हो जाये, यह भयावह है। यदि हम इस खतरे को सम्यक् रूप से समझ कर यंत्र को बाह्य जीवन की बाध्यताओं के रूप में अपनाते तब इस विमुखता से बहुत कुछ बच सकते थे। किंतु हमने राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ आत्मा का उद्धार आत्मवैमुख्य में ही देखा। इसी का यह परिणाम है कि हम आज सुन्द और उपसुन्द के वंशजों जैसे हो रहे हैं, ऋषियों के या राम के वंशजों जैसे नहीं। दूसरी आधारभूत बात यह है कि आज हम उस सनातन भारत को ही अस्वीकार कर रहे हैं, गाँधी जी ने जिसका साक्षात्कार किया था और जो अन्तःसलिला के समान हमारे जातीय जीवन को सौ संकटों के बीच भी बचाये हुए है। उसे हम साम्प्रदायिकता–धर्मांधता आदि कह रहे हैं और यह केवल अज्ञानवश नहीं बल्कि स्वार्थ और झूठ के वश ही कह रहे हैं, इस कारण हमारी चेतना के और गहरे अंध तमस से आवृत्त होने की आशंका होती है। तीसरी, और भी भयानक बात यह है कि किसी भी मनुष्य के आत्म–लाभ के लिए या व्यक्ति होने के लिए जो पहली शर्त है – आत्मसम्मान, निज के धर्म–स्वभाव में प्रतिष्ठा, अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 31, अंक 1 जनवरी–जून, 2017

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान–सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा,** सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. **यशदेव शल्य,** पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 0141–2707493
2. **मुकुन्द लाठ,** ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302019 दूरभाष 0141–2294727/2293725

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)
Reconised by University Grant Commission

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श — 5
   यशदेव शल्य

2. भारतीय मानस का वि–औपनिवेशीकरण : — 20
   प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की कार्ययोजना
   अम्बिकादत्त शर्मा

3. महिषासुर विमर्श की इतिहास–दृष्टि : शम्बुक का द्राविड़ प्राणायाम — 44
   अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र

4. न्यायशास्त्रीय प्रमाण–लक्षण का द्वितीय प्रस्थान : — 67
   जयन्त भट्ट का सामग्रीकारणतावाद
   अरूण मिश्र

5. ज्ञानश्रीमित्र प्रणीत साकारसिद्धिशास्त्र का प्रथम अध्याय : निराकार–निराकरण — 101
   बृजकिशोर त्रिपाठी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. *यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श *

यशदेव शल्य

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष अपने इतिहास में अनेक जातियों, सभ्यताओं या संस्कृतियों को करने पड़े हैं, किन्तु उन संघर्षों में उनके द्वारा स्वयं स्वतंत्रता को ही एक साध्य–मूल्य के रूप में देखा गया, उसमें किसी और मूल्य के निक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठा। इसी प्रकार यह प्रश्न हमारे देश के स्वतंत्रता संग्राम के क्रम में भी नहीं उठा होता। 'स्वतंत्रता अपने आप में साध्य हैं यह प्रतिज्ञप्ति इतनी स्वतः प्रमाण मानी जाती है कि जब महात्मा गाँधी ने इस साध्य के लिए अपनाये जाने वाले साधनों के भी समान रूप से उचित होने की बात की तब विवाद का विषय यही रहा कि उचित साध्य को किन्हीं भी साधनों से सिद्ध करना उचित है या कि साधनों के औचित्य का ध्यान रखना भी उतना ही आवश्यक है ? स्वयं स्वतंत्रता की साध्यता के औचित्य में तब भी किसी ने कभी संदेह व्यक्त नहीं किया। किंतु गाँधीजी ने न केवल साध्यभूत स्वतंत्रता के लिए साधनों के औचित्य को भी उतना ही आवश्यक माना जितना साध्य स्वतंत्रता को माना, बल्कि स्वयं स्वतंत्रता को भी निरपेक्ष साध्य मूल्य के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे एक सापेक्ष साध्य के रूप में ही देखा। गाँधीजी ने भारत की स्वतंत्रता को भारत की अपने स्व में प्रतिष्ठा के रूप में देखा था, जिसमें राजनीतिक पराधीनता अनेक में से केवल एक बाधक थी। स्वतंत्रता–संग्राम विषयक इस दृष्टि के द्रष्टा और इसका सर्वभावेन अनुसरण करने वाले केवल वे ही थे। इसके प्रमाण के रूप में हम रोम्यां रोलां की डायरी (17.1.1924) से एक उद्धरण देना चाहेंगे। चौरीचौरा के आन्दोलन में हिंसा हो जाने के बाद गाँधीजी द्वारा वह आन्दोलन बंद कर दिया गया था। पर रिचर्ड नामक एक अंग्रेज ने, जो अहिंसा का अन्यथा समर्थक था किन्तु उसे राजनीतिक व्यवहार का आधार बनाने के पक्ष में नहीं

** चम्पारण सत्याग्रह, की 100 वीं वर्षगांठ और भारत छोड़ो आन्दोलन की75 वीं वर्षगांठ के अवसर पर इस आलेख का पुनः स्मरण (सम्पादक)।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

था, उनसे पूछा, "मान लें कि इंग्लैंड में सशस्त्र विद्रोह भड़क उठता है और उससे आपके देश की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है, तब आप क्या करेंगे ?" गाँधी जी ने इसका उत्तर दिया, "तब मैं उस विद्रोह को रोकने का प्रयत्न करूंगा।" रोम्या रोलां इसके आगे लिखते हैं, "तब इस क्रम में तिलक से मतभेद की बात करते हुए गाँधी जी ने यह स्वीकार किया कि तिलक ने यह स्पष्टतः कहा है कि वे सत्य के ऊपर अपने देश की स्वतंत्रता को चुनेंगे जबकि वे (गाँधीजी) स्वतंत्रता के ऊपर सत्य को चुनेंगे।"[1] आगे 28 जुलाई 1924 को डायरी में वे लाला लाजपतराय के सम्बन्ध में लिखते हैं, "वे एकमात्र भारतीय राजनीतिक नेता हैं जो गाँधीजी को परामर्श देने की स्थिति में हैं और गाँधीजी जिनकी बात सुनते हैं, जो दास (चितरंजन दास) के अतिरिक्त एकमात्र प्रथम कोटि के भारतीय नेता हैं, या शायद दास से भी प्रथम हैं। किन्तु जहाँ तक मैं देख सकता हूँ, उनका मानस शुद्ध रूप से राजनीतिक स्तर पर ही क्रियाशील है। यदि उन्होंने गाँधी जी के अहिंसक प्रतिरोध के सिद्धान्त को स्वीकार किया है तो वह केवल राजनीतिक कारणों से ही किया है। लाजपतराय जेल से आने के बाद गाँधी जी के इस विचार से पूर्णतः असहमत हैं और कहते हैं कि यदि वे अपना विचार नहीं छोड़ते हैं तो उन्हें (लाजपतराय को) उनसे अलग होना पड़ेगा।" रोम्या रोलां की डायरी से ये उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि स्वतंत्रता–संग्राम में जो मूल्य–दृष्टि गाँधी जी की थी वह अन्य किसी की नहीं थी, क्योंकि तिलक और लाजपतराय को निस्संकोच रूप से महात्मा गाँधी से इतर सभी तत्कालीन राजनीतिक नेताओं का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। दूसरी ओर महात्मा गाँधी को सब समयों और देशों के राजनेताओं में एक अपवाद कहा जा सकता है। व्यक्तिगत जीवन में नितान्त असाधारण और साक्षात्कारी मूल्य–दृष्टि वाले, और उस दृष्टि के अनुसार देह से मनस् पर्यन्त अपने सत्व को ढालने वाले तो संसार के इतिहास में और भी कुछ महात्मा मिल जाएंगे, किंतु संधि, विग्रह, यान, आसन, संशय, द्वैधीभाव की आचार–नीति से परिभाषित राजनीति के सार्वजनिक जीवन को भी धर्म–दृष्टि के अनुसार ढालने वाला उनके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं मिलेगा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाँधी जी को मूर्त सत्य कहा है और उनकी तुलना महात्मा बुद्ध से की है, किन्तु सत्य–जीवन को राजनीतिक व्यवहार का भी मेरुदण्ड बनाने के कारण गाँधी जी से बुद्ध की तुलना भी नहीं की जा सकती। गाँधी–दृष्टि का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ व्यक्तिगत ही नहीं सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार को भी पूर्ण रूप से सत्य के अधीन कर देना है, जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। बुद्ध ने परमार्थान्वेषण की दृष्टि से आर्यजन और पृथग्जन में भेद किया है और व्यवहार–जगत् को पृथग्जन के लिए छोड़ दिया है। राजनीति तो व्यवहार–जगत् में भी निम्नतम स्तर पर आती है। किन्तु गाँधी जी ने व्यवहार को भी परमार्थ का विषय बना दिया।

इस आधार पर से ही महात्मा गाँधी की दृष्टि के और पक्ष भी समझे जा सकते हैं। उनके द्वारा आधुनिक यांत्रिकी का ही अस्वीकार नहीं बल्कि नागर सभ्यता मात्र का ही अस्वीकार उनकी इसी दृष्टि का अंग है। इस शताब्दी के आरम्भ में ही लिखे हिन्द–स्वराज्य के लेखों में उन्होंने यूरोपीय यांत्रिक–वैज्ञानिक सभ्यता को मूल से ही अस्वीकार किया था[2], किन्तु अक्टूबर 1945 में पं. जवाहरलाल नेहरू को लिखे एक पत्र में उन्होंने पुनः लिखा, "मेरा विश्वास है कि यदि भारत को सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी है और उसके माध्यम से संसार को भी स्वतंत्र्य–लाभ करना है[3] तब देर या सबेर इस तथ्य को स्वीकार करना अनिवार्य होगा कि लोगों का गाँवों में रहना ही उचित है, नगरों में नहीं, झोपड़ियों में रहना ही उचित है, महलों में नहीं ...।

"मेरा विश्वास है कि सत्य तथा अहिंसा के बिना मनुष्य का विनाश अनिवार्य है और सत्य तथा अहिंसा को हम ग्राम–जीवन की सरलता में ही साध सकते हैं और ग्राम–जीवन की यह सरलता सही रूप में चरखे के द्वारा और उस भाव के द्वारा ही, जिसे यह प्रतीक व्यक्त करता है, सम्भव हो सकता है।"[4]

यहाँ उस स्पष्टीकरण का उल्लेख आवश्यक है जो महात्मा गाँधी ने इसी पत्र में आगे दिया है, कि 'ग्राम' से उनका आशय वर्तमान भारतीय ग्राम से नहीं है जिसमें अशिक्षा, जहालत, अस्वास्थ्य और गंदगी है बल्कि उस कल्पना के ग्राम से है जिसमें शिक्षा, जागरूकता और स्वस्थ्य तथा स्वच्छ वातावरण होगा। इस पत्र के उत्तर में नेहरू जी ने स्वतंत्र भारत की अपनी अवधारणा लिखी। नेहरू जी की अवधारणा आधुनिक, नागर तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकीय रूप से समुन्नत और संसार के अन्य देशों के साथ कदम मिला कर चलने वाले भारत की थी। स्पष्टतः वह अवधारणा पूर्णतः व्यावहारिक थी, ऐसी जिसमें युग–परिस्थिति और मानव–स्वभाव का ध्यान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रखा गया था। निश्चय ही प्राप्त वस्तुस्थिति और प्राप्य आदर्श के बीच अन्तर की, और इस प्रकार मूल्य की बात उनके पत्र में भी थी, किन्तु वह मूल्य व्यवहार–सम्मत और इतिहास–सम्मत था, परमार्थ–सम्मत नहीं। इसी पत्र में, जैसे अन्य सब जगह भी, गाँधी जी ने 'स्वतंत्रता' शब्द के साथ 'सच्ची' विशेषण का प्रयोग भी अनिवार्य रूप से किया है और भारत की इस स्वतंत्रता को विश्व–मानव के स्वातंत्र्य का प्रवर्तक कहा है। जिसका अर्थ है कि वे भारत की केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की बात नहीं कर रहे थे बल्कि उस समग्र स्वतंत्रता की बात कर रहे थे जिसमें आत्मा की निर्मलता केन्द्रीय है, जिस स्वतंत्रता से परतंत्र भारत से भी अधिक दूसरे स्वतंत्र देश दूर थे। इसी कारण महात्मा गाँधी केवल भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के ही नायक नहीं थे, बल्कि अन्य देशों के असंख्य प्रबुद्ध लोगों के लिए भी प्रेरणा–स्रोत थे। यह इस बात से देखा जा सकता है कि रोम्या रोलां द्वारा 1922–23 में लिखी महात्मा गाँधी की जीवनी के यूरोप और रूस की प्रायः सभी भाषाओं में तुरन्त अनुवाद हो गए और उन सबके अनेक संस्करण और आवृत्तियाँ प्रकाशित हुईं। किन्तु यह भी सत्य है कि भारत में उनके राजनीतिक सहयोगियों में किसी को वह दृष्टि उपलब्ध नहीं थी, सम्भवतः अब्दुल गफ्फार खां के अतिरिक्त और न भारतीय जन–समुदाय की चेतना ही उस दृष्टि से प्रकाशित थी। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि तब भी वे भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के केवल अनेक में से एक नायक नहीं थे बल्कि एक तरह से एकमात्र नायक थे, अन्य लोग उनके सहयोगी मात्र थे। ऐसा सम्भवतः इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि उन्होंने अपने को वास्तविक भारतीय जन की आदर्श प्रतिमा में ढाला, भारत के दीन, दुःखी, दरिद्र जन ने उनमें अपने नारायणीय अवतार को पाया। यदि वे भारतीय राजनीतिक मंच पर नहीं उतरे होते तो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम का रूप केवल मध्य वर्ग के असंगठित विद्रोह का ही रहा होता, एक व्यापक और अभूतपूर्व प्रकार की जन–क्रांति का रूप उसका नहीं होता।

किन्तु यह परिस्थिति भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम को एक विरोधाभास पूर्ण भी बना देती है। गाँधी जी जबकि परमार्थ सत्य के अन्वेषी थे, जो सत्य न उनके किसी राजनीतिक सहयोगी को गम्य था और न ही भारतीय जनमानस को, तब भी वे ऐसे एकमात्र राजनीतिक नेता थे जो भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के नायक थे और अन्य सब उनके पीछे चलने को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवश थे। भारतीय जनमानस के दूसरे पक्ष का, जिसे इसका लौकिक–व्यावहारिक पक्ष कहा जा सकता है, दूसरे नेता प्रतिनिधित्व कर रहे थे और इसके एक बहुत लघु किन्तु शासक वर्ग द्वारा संरक्षित और प्रवर्द्धित वर्ग का, जो विश्वविद्यालयों में शिक्षित था और जिसके आचार और विचार का परम आदर्श पश्चिम था, उसका प्रतिनिधित्व नेहरू जी कर रहे थे। किन्तु तब भी ये सब उस गाँधी के आगे विवश थे जिसमें भारत की सनातन चेतना मूर्त हुई थी और इस प्रकार जिसे नहीं समझ कर भी सब उसके पीछे चलने को विवश थे। भारतीय परिस्थिति के इस विरोधाभास को गाँधीजी जानते थे और शायद वे अकेले ही इस बात को जानते थे। इसीलिए बार–बार उस स्वतंत्रता के सम्बन्ध में देश को चेताते रहते थे जो केवल गोरे साहिबों के स्थानान्तरण के रूप में हमारे हाथ लगने वाली थी।

किन्तु तब यहाँ एक और बहुत बड़ी पहेली रह जाती है, रहस्यों का रहस्य, कि इसी पारदृष्टि वाले गाँधी जी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में उस नेहरू को ही क्यों चुना[5] जो उनके सब सहयोगियों से अधिक यूरोपाभिभूत थे? स्वतंत्रता के बाद अपने यूरोपीय उत्तराधिकार को स्वयं नेहरू जी ने अत्यन्त सटीक रूप में और सगर्व स्वीकार करते हुए एक अमरीकी राजदूत गैल्ब्रैथ से कहा था, "मैं भारत का अन्तिम ब्रिटिश शासक हूँ।"[6] वस्तुतः वे सचमुच में वही थे और इस कारण ब्रिटिशों से कहीं अधिक घातक कि वे भारतीय खाल में थे। शायद ऐसा कहना बहुत अधिक होगा कि कहीं गहरे में महात्मा गाँधी स्वयं भी अपनी मूल्य–दृष्टि की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में संदेहशील थे। यह बात और किसी प्रकार से समझ में नहीं आती। अन्यथा उनके द्वारा सभी अर्थों में एक भूरे यूरोपीय को स्वतंत्र भारत के नेतृत्व के लिए मूर्धाभिषिक्त करने का क्या औचित्य हो सकता था ? या कि इसका कारण भारत की जन्मपत्री में कहीं खोजना चाहिए ?

II

ऊपर की चर्चा में मूल्यविषयक एक दृष्टि पूर्वगृहीत है। उस चर्चा को आधार देने के लिए उस दृष्टि को यहाँ वे स्पष्ट करना आवश्यक है। इसके लिए सर्वप्रथम मूल्य का स्वरूप समझना आवश्यक है और दूसरा, किन्तु प्रथम से अवियोज्य रूप से सम्बद्ध प्रश्न मूल्य के कर्म में निर्वाह का है।

अब, मूल्य क्या है ?साधारणतः किसी भी इच्छा–विषय अथवा प्राप्त लक्ष्य को मूल्य कहा जाता है। 'प्रत्येक व्यक्ति के अपने मूल्य होते हैं', 'मूल्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति–सापेक्ष होते हैं' ये आज बहुत प्रचलित धारणाएँ हैं और इन दोनों में यही पूर्वगृहीत है। किन्तु हम यह भी विमर्श करते हैं कि कौन–सा इच्छा–विषय मूल्य होने के योग्य है और कौन–सा इस योग्य नहीं है। यों योग्यता का यह प्रश्न मूल्य को इच्छा से पृथक् कर एक वस्तुनिष्ठ सन्दर्भ दे देता है किन्तु तब भी ये सन्दर्भ देश, काल, पात्र की सापेक्षता ले लेते हैं। 'आज मूल्यों में परिवर्तन हो रहा है' इस कथन में देश–काल–संदर्भ की सापेक्षता में रुचियों और विचारों को 'मूल्य' पद के वाचक के रूप में देखा जा रहा है। मूल्य–विषयक इस दृष्टि को स्वीकार करने पर मनुष्य के साध्य के निर्णय में तटस्थ विचार और विवेक का कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु यह नहीं रहने पर मूल्य–विमर्श की बात करना ही निरर्थक हो जाता है और न तब उचित–अनुचित का ही कोई अर्थ रह जाता है। यों आज एक बहुत बड़ा दार्शनिक समुदाय है, और आज का बहुमत उसी का अनुयायी है, जो साध्य–निर्णय या उचित–अनुचित–विवेक का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं मानता। किन्तु हमारा विश्वास है कि 'उन्मीलन' पत्रिका के सुधी जन अधिकांश पाठक उस समुदाय के भाग नहीं हैं, अथवा यह चर्चा यहीं बन्द कर देनी पड़ती, क्योंकि यहाँ इस मूल प्रश्न पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता कि मूल्य कैसे वस्तुनिष्ठ विमर्श के विषय हैं।[7] सो, यहाँ हम इस सम्बन्ध में उन्मीलन के पाठकों से सहमति मान कर 'मूल्य' को परिभाषित करने का प्रयत्न करेंगे। यह परिभाषा हो सकती हैं "आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता की सिद्धि"। किन्तु इस पर आपत्ति हो सकती है कि इस परिभाषा को सर्वसम्मत मान कर भी विवाद वहीं का वहीं रह जाता है, क्योंकि तब विवाद का विषय आत्मा का स्वरूप हो जाता है। सर्वप्रथम तो आज आत्मा की बात करना ही आदिम, या मध्ययुगीन, या असैक्युलर मनोवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है, किन्तु इस आक्षेप को छोड़ भी दिया जाय तो 'आत्मा' तो पुत्र–कलत्र, देह, इन्द्रिय, भाव, विचार से लेकर ब्रह्म तक कुछ भी हो सकता है। जिससे भी आप अपना तादात्म्य स्थापित कर लें वही आत्मा है। अधिकांश में हमारा आत्मा हमारी देह और इन्द्रियाँ ही रहती हैं, अधिक ऊपर उठें तो भाव और विचार हमारे आत्मा–स्थानीय हो जाते हैं। किन्तु बहुतों को कभी, किन्हीं स्थितियों में, इनमें आत्मा के परत्व की झलक भी दृष्टिगोचर होती है, स्वयं आत्मा के अपने स्वरूप की झलक चाहे नहीं भी गोचर होती हो। किन्तु हम इस झलक पर अपना भाव अल्प

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काल के लिए भी स्थिर कर आत्मा के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त नहीं हो पाते। जो इस परत्व से मुक्ति का निरन्तर अनुसन्धान करते हैं उन्हीं को हम महात्मा कहते हैं। महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण जीवन इसका अनन्य–साधारण उदाहरण है। सामाजिक आदर्श के रूप में उनकी ग्राम–समाज की दृष्टि, भारत की स्वाधीनता के ऊपर सत्य की प्रतिष्ठा उनके इसी आत्म और अनात्म के तत्त्व–बोध से प्रेरित थी। उनका 'ग्राम–जीवन' से अर्थ इसी 'परत्व या अनात्म से मुक्त जीवन' से और 'सत्य' से अर्थ इसी 'आत्मा की अपने स्वरूप से अनुरूपता' से था, जैसा कि उनके 'सत्य' और 'ईश्वर' को पर्यायवाची शब्द कहने से स्पष्ट है। 'सत्य' का साधारण अर्थ है 'कथन का कथ्य के अनुरूप होना।' किन्तु जब 'सत्य' को 'ईश्वर' के पर्यायवाची के रूप में देखा जाता है तब उसका एक ही अर्थ हो सकता है – आत्मा का अपने स्वरूप के अनुरूप होना। अब 'सत्य' का यह अर्थ होने पर देश की स्वतंत्रता सत्य के ऊपर कैसे प्रतिष्ठा पा सकती है ?क्योंकि सत्य को नकार कर तो स्वतंत्रता ही नकारी जाएगी – यदि स्वतंत्रता 'स्व की अपने तंत्र में प्रतिष्ठा, स्व की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा' है तो ! अब, गाँधी जी के इस कथन की एक प्राचीन श्लोक में प्रतिध्वनि देखें –

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्,
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे सर्वं त्यजेत्।

वास्तव में यदि हम देश की स्वतंत्रता को सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित कर देंगे तो किसी भी तर्क से देश की स्वतंत्रता को अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। इसलिए, जब हम देश को अपने से ऊपर रखने की श्रेष्ठता की बात करते हैं तब सत्य के तर्क को केवल अंशतः ही देखते हैं, क्योंकि तब देश भी एक विस्तृततर स्वार्थ, विस्तृततर अहंकार ही हो जाता है। गाँधी जी की यही दृष्टि नागर जीवन में परोन्मुखता और ग्राम–जीवन में परत्व से निवृत्ति देखने के पीछे भी थी। नेहरू जी ने अपने पत्र में इसके विरुद्ध ग्रामजीवन में चेतना और संस्कृति के अविकसित रहने की और नागर जीवन में इसके विकास–लाभ करने की बात कही है। जिसका अर्थ है कि वे साहित्य, संगीत, विज्ञान और शास्त्र में और उससे भी अधिक प्रौद्योगिकी और व्यापार में आत्मा का स्वरूप–लाभ देखते हैं। नेहरू जी को छोड़ते हुए, यहाँ मूल्य–विषयक इन दो दृष्टियों की बात की जा सकती है और कहा जा सकता है कि गाँधी–दृष्टि जबकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत्प्रवृत्ति में आत्मा की अपने स्वरूप से विमुखता देखती है, नेहरू–दृष्टि जगत् ही में आत्मा का आत्मचरितार्थन देखती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति वास्तव में इस दूसरी दृष्टि की ही अनुसारी है और यह भी सही है कि सभ्यताओं और संस्कृतियों का विकास इस दूसरी दृष्टि से ही हो सकता है। इसमें पुरुषार्थ भी है – अर्थ और काम–मूलक अर्थों में आत्मा का अनुसन्धान। किन्तु जैसा कि गाँधी जी ने देखा, इसमें हिंसा और असत्य से मुक्ति नहीं है, बल्कि इनका आश्रय इस विकास के लिए अनिवार्य–सा ही है। अपने इस पत्र के अन्त में नेहरू जी ने इसे स्वीकार भी किया है। वे कहते हैं, "आपका यह कहना सही है कि मनुष्य–जगत् अथवा इसका बहुत बड़ा भाग, आत्महत्या पर उतारू है। यह सभ्यता की भूमि में आ पड़े किसी विषबीज के अंकुरित और पल्लवित हो जाने का अनिवार्य परिणाम हो सकता है। हमारा प्रयत्न इसके घातक परिणामों से बचने का होना चाहिए।" किन्तु इन परिणामों से हम और संसार की दूसरी सभ्यताएँ कहाँ तक बच पायी हैं और इनके बचने की क्या सम्भावनाएँ हैं, यह हम देख ही रहे हैं। स्वयं नेहरू जी ने इस विष–बीज के सम्बन्ध में जानते हुए भी इससे बचने के लिए कुछ करना तो दूर इसके प्रभाव को कम करने के लिए भी कोई प्रयत्न नहीं किया। या कि यह इस सभ्यता के विकास की गति का ही अनिवार्य तर्क है कि इससे बचना असम्भव है, अन्यथा नेहरू जी की सदाशयता में तो किसी को संदेह नहीं हो सकता।

III

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने जो देखा वह ऐसा कुछ नहीं था जो पहले किसी ने नहीं देखा था। वास्तव में हमारे यहाँ कलियुग की कल्पना के रूप में यह दृष्टि स्पष्ट विद्यमान थी, सम्राट् अशोक में राजनीति को सत्य और अहिंसा में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि भी दिखायी देती है, किन्तु सत्य और अहिंसा से सम्पूर्ण जनमानस का इस्पातीकरण और गोलियों का मुकाबला खाली छाती से करना और उसे युद्ध–कौशल[4] का रूप दे देना, यह इस देश को और इस देश के माध्यम से सम्पूर्ण संसार को सतयुग में लौटा ले चलने का ऐसा हठ था जिसमें गाँधी–दृष्टि की अपूर्वता थी। वे इसमें बुरी तरह असफल रहे, यह हम देख ही सकते हैं, यद्यपि यह सही है कि यदि स्वतंत्रता के अवसर पर देश की बागडोर नेहरू जी के बजाय सुभाष या पटेल जैसे किसी व्यक्ति के हाथ में आयी होती तो सम्भव है हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस अनिवार्य असफलता के बावजूद इतने गहरे और इतने गंदे गर्त में नहीं गिरे होते जिसमें हम नेहरू जी के कारण गिरे। नेहरू जी के कारण हम अतिरिक्त गहराई में गिरे, इसका कारण हमारा जातीय स्वभाव को छोड़कर परभाव का अनुकरण था। दूसरे, नेहरू जी ने भाखड़ा–नंगल और सिंद्री आदि परियोजनाओं को मंदिर ही घोषित कर दिया और इस प्रकार केवल अर्थ और काम को ही, धर्म और मोक्ष से नितांत विमुखता के साथ, हमारा पुरुषार्थ बना दिया। निश्चय ही इसमें केवल नेहरू जी को दोष देना अनुचित होगा, क्योंकि नेहरू जी दूसरों के सहयोग के बिना और देश के उस वर्ग के सहयोग के बिना जो वर्ग शक्तिपीठों के निकट था, अकेले ही यह नहीं कर सकते थे। किंतु वे देश में कलियुग के कुरूपतम रूप के अवतरण में नायक अवश्य बने। उदाहरणतः उन्होंने हमारी चेतना का जिस प्रकार पश्चिमीकरण और लोकायतीकरण किया, उन्होंने जिस प्रकार शिक्षा–क्षेत्र की उपेक्षा की, वह सब उन्हीं की विशिष्ट देन है।

ऊपर उद्धृत पत्र में नेहरू जी ने गाँधी जी के ग्राम–आधारित समाज के विचार का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा, "मुझे यह बात समझ में नहीं आयी कि क्यों सत्य और अहिंसा का वास ग्राम में ही सम्भव है। साधारणतः ग्राम बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े ही होते हैं और एक पिछड़े हुए वातावरण में प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। संकुचित मानसिकता वाले लोगों के असत्य और हिंसा–परायण होने की सम्भावना अधिक होती है।"... पत्र में आगे उन्होंने आज के युग में किसी देश के सांस्कृतिक रूप से (और सत्य में प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी (?)) उन्नत होने के लिए उसका तकनीकीय और वैज्ञानिक दृष्टि से उन्नत होना आवश्यक बताया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नेहरू जी भी कोई नयी बात नहीं कर रहे थे। सभ्यताओं के इतिहास के सभी आधुनिक लेखक सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए नागरता को अनिवार्य मानते हैं और यह भी देखा जा सकता है कि हमारा सम्पूर्ण शिक्षित वर्ग 'वैज्ञानिक' शब्द को युक्ति–सम्मतता और सांस्कृतिकता का पर्याय मानता है और तकनीकी विकास को 'प्रगति' का पर्यायवाची मानता है। यों पुराकाल में भी 'ग्राम्य' शब्द का प्रयोग 'मूढ़' के पर्यायवाची के रूप में होता था और 'नागर' शब्द का 'परिष्कृत' के पर्यायवाची के रूप में। किन्तु विचार की इस दिशा में यह भुला दिया जाता है कि न वेद और उपनिषद् नागर सभ्यता की देन थे और न कबीर, नानक,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तुलसी और सूर आदि ही नागर सभ्यता की देन थे। सुकरात और प्लेटो के होने के लिए भी नागर सभ्यता अनिवार्य नहीं थी। गाँधीजी जब सत्य और अहिंसा–परायण समाज के लिए ग्राम की बात करते हैं तब उनकी दृष्टि में ऐसा ही अन्तःप्रकाशित समाज है, इसी से वे 'कल्पना के ग्राम' की बात करते हैं, तत्कालीन अविकसित ग्राम की नहीं। निश्चय ही भारत में सभ्यता का विकास तो मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य में ही हुआ, किन्तु वह हिंसा और अन्य लोक–साधारण उपायों से ही हुआ और सत्य वहाँ ब्राह्मणों के माध्यम से ही चरितार्थ किया गया। दर्शन, शास्त्र, कला और शिल्प का विकास ऐसे साम्राज्यों में ही विशेष हुआ। आत्मा को पाने की यह भी एक दिशा है, इसी दिशा में आगे विज्ञान और तकनीकी भी आते हैं, केवल इस अन्तर के साथ कि इनमें आकर आत्मा प्रायः पूर्णतः देह और इन्द्रियों से तदात्म हो जाती है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि सभ्यता के नागर विकास के बिना आभ्यन्तर अर्थों के विकास की सम्भावना चरितार्थ हो ही, यह आवश्यक नहीं है, उससे भी अधिक सम्भावना इस बात की रहती है कि बाह्यार्थों के विकास से वंचित जन आन्तर अर्थों के विकास से भी वंचित रहें। अधिकांश विकसित संस्कृतियों में ग्राम इसी अविकास के उदाहरण हैं, स्वयं हमारे देश में भी 'ग्राम्य' शब्द इसी बात की ओर संकेत करता है। इसी से जब गाँधी जी ने ग्राम की बात की तब उस ग्राम की बात नहीं की जो हमारे देश में उपलब्ध था बल्कि 'कल्पना के ग्राम' की बात की, उस ग्राम की जिसमें मनुष्य बाह्यार्थों के अन्वेषण में अपनी चरितार्थता नहीं देखता बल्कि आंतरिक अर्थों के अन्वेषण में देखता है।

IV

किन्तु तब यहाँ अनेक व्यावहारिक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। सबसे पहला और प्रमुख प्रश्न तो यही है कि ऐसा समाज उन दूसरे समाजों से अपनी रक्षा कैसे कर पायेगा जो बाह्यतः समृद्ध और इस प्रकार शक्तिशाली हैं, अथवा जो भीतर–बाहर दोनों ओर से विपन्न हैं किन्तु आसुरी शक्ति से सम्पन्न हैं ?अतीत में संस्कृति में समुन्नत प्रायः सभी जातियाँ उन बाह्य आक्रान्ताओं से परास्त होती रही हैं जो सांस्कृतिक रूप से अविकसित थे। हमारा देश तो इसका ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है। आज तो परिस्थिति और भी विकट है, आज सारा संसार यातायात और सम्प्रेषण–यंत्रों के चामत्कारिक विकास से बहुत कुछ एक समाज और एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाजार जैसा हो गया है, जो समाज और बाजार केवल जंगल के नियमों से नियन्त्रित है। गाँधी जी का सपना था कि भारत में ग्राम–समाज के रूप में एक वास्तविक मानवीय सभ्यता की प्रतिष्ठा कर सकेंगे और उसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व में उस सभ्यता का प्रवर्त्तन कर सकेंगे। किन्तु वे अपनी इस सोच में वास्तविकता से बहुत दूर थे। पाश्चात्य सभ्यता में जो विष–बीज यांत्रिकी–प्रौद्योगिकी के रूप में अंकुरित हो गया था और गाँधी जी ने जिसके फलों के रूप–गुण का सम्यक् रूप से अनुमान कर लिया था उसे जड़ से ही उखाड़ने का उपाय तो वही था जो गाँधी जी करना चाहते थे, किन्तु वह उपाय नितान्त अव्यावहारिक था। क्योंकि मनुष्य की जो प्रकृति है उसके रहते, और संसार की जो तत्कालीन परिस्थिति थी उसके रहते, इतिहास की गति को ग्राम–सभ्यता की दिशा में आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। यदि किसी प्रकार हम अपने देश में वैसा करने में सफल हो भी पाते तो अन्य देशों में वह कर पाना सम्भव नहीं था और उसके बिना हमारे देश में भी वह टिका नहीं रह सकता था। इसके अतिरिक्त, मानव–प्रकृति के वैसा रहते जैसी वह है, हमारे देश में भी उसकी स्थायिता सम्भव नहीं थी। अतीत में मनुष्य को अपने स्वरूप की ओर उन्मुख करने के अनेक प्रयत्न हुए और मानवसमाज ऐसे मार्गदर्शकों की प्रेरणा से उस दिशा में उन्मुख होता भी रहा, किन्तु प्रेरणा–स्रोत के हट जाने के बाद वह पुनः अपनी पहली दशा में ही लौट आता रहा। गाँधी जी के तो अपने जीवनकाल में ही उनके कम से कम राजनीतिक सहयोगियों ने ही उनकी मूल्य–दृष्टि को स्वीकार नहीं किया और उनके स्वयं के द्वारा चुने गए उत्तराधिकारी ने उन्हें सबसे अधिक मूलगामी रूप में अस्वीकार किया। ऐसे में उन विषाक्त फलों का फलना तो स्वाभाविक ही था जो फले, और हमारा उस अंधे कुएँ में गिरना भी अनिवार्य था जिसमें आज हम आ पड़े हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारा इस गर्त में गिरना हमारी अनिवार्य नियति थी। ग्राम–समाज की ओर यथावत् अग्रसर होना सम्भव नहीं होने पर भी हम उस मूल्य–दृष्टि को अपना आदर्श रख सकते थे। आखिर महात्मा गाँधी भारत में इसी युग में हुए थे और वे केवल एक व्यक्ति ही नहीं थे बल्कि उस तत्त्व के एक द्रष्टा भी थे जो सनातन भारत का तत्त्व है। इसी युग में वह तत्त्व रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, श्री अरविन्द आदि अन्य अनेक महात्माओं में भी उपाधि–भेद से भास्वर देखा जा सकता है। गाँधीजी उसी तत्त्व की एक व्यापकतर अभिव्यक्ति थे। गाँधीजी ने उस तत्त्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को जो राजनीतिक सन्दर्भ में व्यवहार का रूप दिया उसी में उनका अद्‌भुत नावीन्य और सृजनात्मकता थी, अन्यथा तो वह सनातन भारत का ही तत्त्व था। जैसा कि हमने पीछे कहा, इस तत्त्व के इस रूप के काल–भेद से भिन्न लक्षण सम्राट् अशोक में भी देखे जा सकते हैं। यदि व्यवहार के अनुरोध से उस तत्त्व की गाँधी–दृष्टि में कुछ संशोधन की आवश्यकता थी तो उसमें यथोचित संशोधन करना उनके उत्तराधिकारियों का काम था। यों स्वयं गाँधी जी ही अपनी दृष्टि के व्यवहार में निरन्तर संशोधन करते रहे थे। उदाहरणतः वे क्रमशः यंत्रों को उस सीमा तक स्वीकार करने को राजी थे जिस सीमा तक वे मनुष्य के उपकरण रहें। जिस सीमा के आगे मनुष्य उनका उपकरण होने लगे केवल वहाँ ही वे उन्हें स्वीकृति देने को राजी नहीं थे। यों भी आखिर किसी यंत्र का विरोध कैसे हो सकता है ? विरोध तो उस अभिवृत्ति या मानसिकता का ही हो सकता है जो इन यंत्रों के साथ आती है। यंत्र आत्मा का ही बाह्यार्थ है। देहात्म के अनुरोध के बाह्यार्थों में आत्मा का विस्तार यंत्रों की दिशा में होना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। आखिर आत्मा एक से अनेक भी अपने बाह्याक्षेप से ही हुआ और इससे इस जगत् का आविर्भाव हुआ। किंतु यह आत्मा बाह्य अर्थों में अपनी सम्पन्नता का लाभ करे, अपने को चरितार्थ करे, यह तो प्रेय का श्रेयात्मक रूप हो सकता है, किंतु बाह्य अर्थों में आत्मा आत्मविमुख होने लगे और इस प्रकार विपन्न हो जाये, यह भयावह है। यदि हम इस खतंरे को सम्यक् रूप से समझ कर यंत्र को बाह्य जीवन की बाध्यताओं के रूप में अपनाते तब इस विमुखता से बहुत कुछ बच सकते थे। किंतु हमने राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ आत्मा का उद्धार आत्मवैमुख्य में ही देखा। इसी का यह परिणाम है कि हम आज सुन्द और उपसुन्द के वंशजों जैसे हो रहे हैं, ऋषियों के या राम के वंशजों जैसे नहीं। दूसरी आधारभूत बात यह है कि आज हम उस सनातन भारत को ही अस्वीकार कर रहे हैं, गाँधी जी ने जिसका साक्षात्कार किया था और जो अन्तःसलिला के समान हमारे जातीय जीवन को सौ संकटों के बीच भी बचाये हुए है। उसे हम साम्प्रदायिकता–धर्मांधता आदि कह रहे हैं और यह केवल अज्ञानवश नहीं बल्कि स्वार्थ और झूठ के वश ही कह रहे हैं, इस कारण हमारी चेतना के और गहरे अंध तमस से आवृत्त होने की आशंका होती है। तीसरी, और भी भयानक बात यह है कि किसी भी मनुष्य के आत्म–लाभ के लिए या व्यक्ति होने के लिए जो पहली शर्त है – आत्मसम्मान, निज के धर्म–स्वभाव में प्रतिष्ठा, अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साकारज्ञानवादी सौत्रान्तिक के मत की स्थापना एवं खंडन –

सौत्रान्तिक की समस्या है कि ज्ञान का प्रमाणत्व स्वीकार करने से प्रमाण और प्रमाण–फल में भेद नहीं रह जाता है। उनके अनुसार ज्ञान का प्रमाणत्व स्वीकार करने से ज्ञान फल उत्पन्न नहीं करता है। वह अफल का जनक होता है और अफल के जनक के प्रमाणत्व होने की आपत्ति आ जाती है। वैभाषिक ज्ञान को उसके अपने कर्म (ज्ञान) के प्रति प्रमाण मानते हुए कहते हैं कि स्वकर्मव्यापार से ज्ञान भी सव्यापार सा आभासित होता है। उनके अनुसार अर्थ–क्षण और ज्ञान–क्षण समकाल होते हैं और ज्ञान–क्षण पूर्व के ज्ञानार्थ क्षण से उत्पन्न होता है। उससे उसकी कर्मता प्रतिपादित होती है, न कि पुनः अपने समान काल में उत्पन्न ज्ञानक्षण से उसकी कर्मता प्रतिपादित होती है। "तदिदमनुपपन्नम्, अफलजनकस्य प्रमाणत्वापत्ते रित्युक्तत्वात्। अपि च कर्मणि ज्ञानं प्रमाणमिश्यते। यथोक्तम्– सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणेति। स चायमर्थक्षणो ज्ञानसमकाल स्ततः पूर्वाभ्यां ज्ञानार्थक्षणाभ्यामुपजनित इति तत्कर्मतां प्रतिपद्यतां न पुनः स्वसमान कालप्रसूतज्ञानक्षणकर्मतामिति।"[20]

जयन्त भट्ट निराकारवादियों के विरोध में दिये गये साकारवादी का मत प्रस्तुत करते हुए साकारवाद का खंडन करते हैं। साकारवादियों के अनुसार साकारविज्ञान प्रमाण होता है। निराकारवाद में बोध निराकार होता है आर वह निराकार बोध नील पीतादि में समान रूप से पाया जाता है। बोध या ज्ञान में ज्ञान–कर्म का जनकत्व होता है और वे कर्म रूप ज्ञान के नियामक होते हैं। निराकारवाद के विरोध में साकारवदी की युक्ति है कि चक्षुरादि में भी जनकत्व होता है और जनकत्व के भाव से कर्मता मानने से चक्षुरादि में भी कर्मता होने की समस्या आ जाती है। साकारवादी के अनुसार ज्ञान–कर्म का नियमन तदाकारकृत ही होता है। इस प्रकार वे साकारविज्ञान को प्रमाण कहते हैं। जयन्त भट्ट का आरोप है कि साकारवाद में भी प्रमाण से भिन्न प्रमाण–फल नहीं होने से उनका मत समीचीन नहीं है। एक साकारज्ञान ही ग्राहक और ग्राह्य नहीं हो सकते हैं। साकारवादी को अर्थ स्वीकार नहीं होना चाहिये क्योंकि उनके मत में अर्थ न अनुमेय हो सकता है और न प्रत्यक्ष। साकार और अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होने से साकारवद में अर्थ अनुमेय नहीं है। साकारवादी यह कहाँ देखा है कि अर्थ को होने में ज्ञान साकार और नहीं होने में निराकार होता है। अर्थ प्रत्यक्ष भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं है। उसे प्रत्यक्ष कहने के लिये अर्थाकार और ज्ञानाकार दो प्रतीतियाँ होनी चाहिये। परन्तु इन आकारद्वय की प्रतीति का अभाव होने से अर्थ प्रत्यक्ष भी नहीं है। आकारद्वय को स्वीकार करने से अनवस्था दोष आ जाता है। आकार निराकारज्ञान गम्य नहीं होता है। अर्थाकार निराकारज्ञान गम्य नहीं होता है। ज्ञानाकार से ही आकारवत्ता जानी जाती है। ज्ञानाकार का ही ग्राह्यत्व होता है। वह ज्ञानाकार भी अन्य आकारवान् से जाना जाता है। पुनः वह भी अन्य से जाना जाता है। इस प्रकार आकारद्वय को स्वीकार करने से अनवस्था दोष निश्चित है। अतएव अर्थ प्रत्यक्ष भी नहीं है। अतः बोध को प्रमाण मानने वाले विज्ञान से फल को अभिन्न ही मानते हैं। जयन्त भट्ट के अनुसार –"ये हि निराकारस्य बोधरूपस्य नीलपीताद्यनेकविषय साधारणत्वाज् जनकत्वस्य च चक्षुरादावपि भावेनातिप्रसंगात्तत दाकारकृतमेव ज्ञानकर्मनियममवगच्छन्तः साकारविज्ञानं प्रमाणमिति प्रतिपेदिरे, तेऽपि विज्ञानाद्वैतसिशाधयिशयैवमभिदधानास्तन्निरासप्रसंग एव निरसिश्यन्ते। न ह्येकमेव साकारं ज्ञानं ग्राह्यं ग्राहकन्च भवितुमर्हतीति वक्ष्यते। अर्थस्तु साकारविज्ञानवादिनो न समस्त्येव। स ह्यनुमेयो वा स्यात्प्रत्यक्षो वा ?नानुमेयः सम्बन्धग्रहाणाभावात्। 'अर्थे हि सति साकारं निराकारं तदत्यये। नित्यानुमेयबाह्यार्थवादी ज्ञानं क्व दृष्टवान्।।' नापि प्रत्यक्षोऽर्थः, आकारद्वयप्रतीत्यभावात्, अभ्युपगमे चानवस्थाप्रसंगात्। अर्थाकारो हि निराकारज्ञानगम्यो न भवतीति ज्ञानेनाकारवत्ता गृह्यते। सोऽयमिदानीं ज्ञानाकारोऽपि ग्राह्यत्वादन्येना कारवता गृह्यते सोऽप्यन्येनेति।"[21]

भाट्ट मत की स्थापना एवं खंडन –

शबरस्वामी के अनुसार बोध को प्रमाण मानने वाले ये बौद्ध नैयायिक ज्ञान नामक प्रमाण को उसके फल से अभिन्न मानते हैं। मीमांसक बौद्ध मत का निरास करते हैं तथा कहते हैं कि अर्थ की दृष्टता नामक प्रमाण फल विज्ञान से भिन्न होता है। प्रमाण–फल से ही ज्ञान नामक प्रमाण की अनुमिति होती है। ज्ञान नामक प्रमाण क्रियात्मक होता है और ज्ञाता के व्यापार के बिना प्रमाण–फल की निष्पत्ति नहीं होने से वह क्रिया फल से अनुमान किया जाता है। कारकों का सम्बन्ध क्रिया से होता है। कारक क्रिया के साथ ही अन्वित होता है। यह नहीं होने में किसके साथ ये कारक सम्बन्धित होना चाहिये। ये क्रिया से असम्बन्धित नहीं होते हैं। क्रिया के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ सम्बन्धित हुए बिना कारकत्व की प्राप्ति नहीं होती है। क्रिया के साथ सम्बन्ध के बल से ही कारक कारक होता है। क्रिया के साथ सम्बन्ध के विना हमें वस्तु का स्वरूप मात्र ही प्राप्त होता है, वह कारक नहीं होता है। फलतः वे फलार्थियों द्वारा ग्रहण नहीं किये जाते हैं और इस प्रकार व्यवहार का लोप हो जाता है। मीमांसक के अनुसार आत्मा, इन्द्रिय, और मन का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने में ज्ञान नामक व्यापार उपजते हैं। वे कहते हैं कि चावल, पानी, आग, और पात्रादि वस्तुओं का स्वभाव सिद्ध होता है और वे पाक–क्रिया नामक एक धातु के अर्थ को स्वीकार कर आपस में सम्बन्धित होते हैं तथा वे सम्बन्धित वस्तु क्रिया का उत्पादन करते हैं। उसी प्रकार से आत्मा, इन्द्रिय, और मन का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने में ज्ञाता ज्ञान नामक व्यापार उपजाता है। वह व्यापार प्रत्यक्ष नहीं होता है, अपितु विषय की प्रकाशता नामक फल से अनुमान किया जाता है। वाह्य देश से सम्बद्ध आर्थ का ग्रहण होने से अर्थाकार और ज्ञानाकार दो आकारों का प्रतिभास होना चाहिये। परन्तु उन आकारद्वय के प्रतिभास का अभाव होने से वे बाह्य देश से सम्बद्ध अर्थ अगृहीत होते हैं। उस अगृहीत अर्थ को ग्रहण करने का भी उपाय होता है। वे अगृहीत अर्थ परोक्ष होते हैं और अनुमान नामक उपाय से ग्रहण किये जाते हैं। अगृहीत के उपायत्व के आधार पर वह परोक्ष भी विषयप्रकाशता रूप लक्षण नामक फल से अनुमान किया जाता है। जयन्त भट्ट शबरस्वामी के मत का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि उनके अनुसार कोई ज्ञाता अज्ञात अर्थ में बुद्धि को प्राप्त नहीं करता है किन्तु ज्ञात अर्थ में तो उसे अनुमान से जानता है। कुमारिल भट्ट भी यही कहते हैं कि ज्ञान के बिना विषय का सद्भाव होते हुए भी वह दृष्ट रूप में उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिये पीछे वह ज्ञान प्रमाण–फल से अनुमानतः जाना जाता है। इसीलिये प्रमाण–फल से अनुमित ज्ञान शब्द से व्यक्त यह ज्ञान–व्यापार प्रमाण कहलाता है। इन्द्रियादियों को उनकी उत्पादकता के कारण ज्ञान कहना अभिधामूलक नहीं औपचारिक मात्र है। भाट्ट मीमांसक के मत को प्रस्तुत करते हुए जयन्त भट्ट लिखते हैं –" शाबरास्तु ब्रुवते य एते बोधप्रामाण्यवादिनो विज्ञानादभिन्नमेव फलमभिदधाति ते बाढं निरसनीया भवन्त्येव। वयं तु विज्ञानाद् भिन्नमेव फलमर्थदृष्टताख्यमभ्युपगच्छामः। तेनैव तदनुमीयते, ज्ञानं हि नाम क्रियात्मकं, क्रिया च फलानुमेया ज्ञातृव्यापारमन्तरेण फलानिश्पत्तेः। संसर्गोऽपि कारकाणां क्रियागर्भ एव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भवति। तदनभ्युपगमे किमधिकृत्य कारकाणि संसृज्येरन्। न चासंसृष्टानि तानि फलवन्ति, क्रियावेशवशाच्च कारकं कारकं भवति। अपरथा हि तद्वस्तुस्वरूपमात्रमेव स्याद् न कारकम्। ततश्च न फलार्थिभिरुपादीयेतेति व्यवहारविप्रलोपः। तस्माद् यथा हि कारकाणि तण्डुलसलिलानल स्थाल्यादीनि सिद्धस्वभावानि साध्यं धात्वर्थमेकं पाकलक्षणमुररीकृत्य संसृज्यन्ते, संसृष्टानि च क्रियामुत्पादयन्ति तथात्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षे सति ज्ञानाख्यो व्यापार उपजायते। स च नप्रत्यक्षःअर्थस्यैवबहिर्देशसम्बद्धस्य ग्रहणादाकारद्वयप्रतिभासाभावाद गृहीतस्यापि तस्य चक्षुरादिवदुपायत्वात् परोक्षोऽपि चासौ विषयप्रकाशतालक्षणेन फलेन कल्प्यते। तदाह भाष्यकारः ' न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छतीति।' वर्त्तिककृताप्युक्तम् 'नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते। ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणमुपकल्प्यते।।इति ' तदेश फलानुमेयो ज्ञानव्यापारो ज्ञानादिशब्दवाच्यः प्रमाणम्। इन्द्रियादीनां तदुत्पादकतया ज्ञानमुपचरति न साक्षादिति।"[22]

भाट्ट मीमांसक के अनुसार विषय अपने ग्रहण के समय में अनधिगत होता है। विषय के अनधिगतत्व के आधार पर मीमांसक बाह्यार्थ को अस्वीकार करने वाले बौद्धों के मत का निरास करते हैं। ये मीमांसक बौद्ध मत के विपरीत ज्ञान–व्यापार नामक प्रमाण से प्रमाण–फल को भिन्न मानते हुए प्रमाण–फल से प्रमाण (ज्ञान–व्यापार) का अनुमान करते हैं। इनके अनुसार ज्ञान–व्यापार परोक्ष होता है और उसका परोक्षत्व उसके स्वभाव के आधार पर सिद्ध करते हैं। जयन्त भट्ट मीमांसक के मत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि ज्ञान में अनित्य और परोक्ष होने की योग्यता ही नहीं होती है। जयन्त भट्ट कहते हैं कि विशेषण के ग्रहण के बिना विशिष्ट की प्रतीति का उत्पाद नहीं होता है। वे उदाहरण देते हुए कहते हैं कि 'शुक्ल पट' में विशेषण के ग्रहण के विना विशिष्ट की प्रतीति का उत्पाद नहीं होता है। 'शुक्ल पट' नामक कथन के तुल्य 'अर्थ ज्ञात है' नामक कथन में उस विशिष्टार्थ का अनुव्यवसायात्मक प्रत्यक्ष होने से स्पष्ट है कि ज्ञान परोक्ष नहीं होता है। जयन्त भट्ट पूछते हैं कि ये मीमांसक बौद्धों से इतना भयभीत क्यों हैं कि विषय के ग्रहण के समय वाह्यार्थ को अस्वीकार करने वाले इन बौद्धों के मत को विज्ञान के अग्रहण (अनधिगतार्थगन्तृत्व) के आधार पर निरास करते हैं। यह कहना अयुक्त है कि क्रिया के स्वभाव के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फलस्वरूप उसका परोक्षत्व सिद्ध होता है। ज्ञान क्रियास्वभावक नहीं होता है अपितु वह फलस्वभावक होता है। ज्ञान सर्वदा फल होता है, क्रिया नहीं। और यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्यक्ष द्रव्य में वर्तमान क्रिया भी प्रत्यक्ष ही होता है। अतः भाट्ट मीमांसक किस अपराध से वशीभूत होकर प्रत्यक्ष आत्मा की क्रिया को अप्रत्यक्ष कहते हैं। जयन्त भट्ट के शब्दों में –" न खल्वनित्यं परोक्षं ज्ञानं भवितुमर्हति। ज्ञातोऽर्थ इति क्वचित्तद्विशिश्टार्थप्रत्यवमर्शदर्शनाद् विशेषणाग्रहणे शुक्लः पट इतिवद् विशिष्टप्रतीतेरनुत्पादात्। कश्चायमियान् सन्त्रासः विषयग्रहणकाले विज्ञानाग्रहणमात्रकेण बाह्यार्थनिह्ववादिनः शाक्याः शक्याः शमयितुम्। यत्तु क्रियास्वभावत्वात्तस्य परोक्षत्वं, तदयुक्तम्। न हि क्रियास्वभावं ज्ञानमपि तु फलस्वभावमेव। अपि च क्रियाऽपि प्रत्यक्षद्रव्यवर्त्तिनी प्रत्यक्षैव। भाट्टानां प्रत्यक्षश्चात्मा तत्किमनेनापराद्धं यदेतदीयक्रियाया अप्रत्यक्षत्वमुच्यते।"[23]

भाट्ट मीमांसक प्रमाण का परोक्षत्व सिद्ध करने के लिये प्रमाण नामक क्रिया को अतीन्द्रिय कहते हैं तथा प्रमाण–फल से प्रमाण का अनुमान करते हैं। वे प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की तार्किक स्थिति स्पष्ट करने के लिये कारक पर विचार करते हैं। उनके मत में क्रिया के साथ सम्बन्ध के बिना कारकत्व की उत्पत्ति नहीं होने से वह जो क्रिया करता है कारक कहलाता है। नैयायिक क्रिया को करना और क्रिया–फल में भेद करते हैं। उनके अनुसार यह सत्य है कि जो करता है वह कारक है, परन्तु वह क्रिया करता है अथवा फल करता है। नैयायिक के मत में वह कारक फल को करता है, क्रिया को नहीं करता है। नैयायिक का यह मत क्रिया और क्रिया–फल के भेद पर आश्रित है। नैयायिक का मत है कि कारक क्रिया नहीं अपितु फल करता है। मीमांसक का प्रत्युत्तर है कि 'करता है' से क्रिया ही कही जाती है। मीमांसकों के अनुसार 'चैत्र कट करता है' नामक वाक्य में चैत्र के तुल्य, कट के तुल्य 'करता है' का अर्थ भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस आधार पर वे कहते हैं कि 'करता है' से क्रिया ही कही जाती है। मीमांसक क्रिया करना को अतीन्द्रिय मानते हैं और यही कारण है कि उसे वे परोक्ष कहते हैं तथा क्रिया–फल से उसका अनुमान करते हैं। नैयायिक के अनुसार क्रिया को अतीन्द्रिय मानने से व्यवहार का लोप हो जाता है। वे कहते हैं कि अतीन्द्रिय क्रिया के साथ सम्बन्ध का बन्धन कारक का भाव व्यक्त नहीं करता है। क्रिया को अतीन्द्रिय स्वीकार करने से उसके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ सम्बन्ध के बन्धन से उत्पन्न कारकत्व का हमें ज्ञान नहीं होता है। कारकत्व का ज्ञान नहीं होने की स्थिति में व्यवहार के लोप की समस्या आ जाती है। और हम किसी को कारक नहीं कह सकते हैं। अतीन्द्रिय क्रिया के साथ सम्बन्धित पद के कारकत्व को फलार्थी देख नहीं पाता है और फलार्थी द्वारा कारकत्व का ग्रहण संभव नहीं होता है। जयन्त भट्ट के मत में कारकत्व अतीन्द्रिय नहीं होता है, अपितु सहकारी कारणों की सन्निधि ही कारकत्व का स्वरूप निर्धारित करता है। सहकारी कारणों की सन्निधि को निश्चित कर कारकों का स्वरूप निश्चित करते हुए फलार्थी कारकत्व को ग्रहण करते हैं तथा फल का लाभ करते हैं। जयन्त भट्ट के शब्दों में –"ननु करोतीति कारकं क्रियावेशमन्तरेण कारकत्वानुपपत्तेः। सत्यं– करोतीति कारकं तत्तु फलमेव करोति न क्रियाम्। ननु करोतीति यद् ब्रूशे सेयमुक्तैव क्रिया भवति। चैत्रः कटं करोतीति चैत्रस्येव कटस्येव करोत्यर्थस्याप्रत्याख्येयत्वात् तत्कृतमेव चैत्रादीनां कारकत्वम्। उच्यते नातीन्द्रियक्रियायोगनिबन्धनः कारकभावः, क्रियाया अतीन्द्रियत्वेन तद्योगकृतकारकत्वानधिगमे व्यवहारविप्रलोप प्रसंगात्। क्रियावेशकृतं हि तत्कारकत्वमनवगच्छन्तः कथं फलार्थिनस्त दुपाददीरन्। मत्पक्षे कारकत्वं हि नास्ति किंचिदतीन्द्रियम्। कारकत्व स्वरूपस्य सहकार्यादिसन्निधिः।। तावदेव विनिश्चित्य तदुपादीयतेऽर्थिभिः। तदेवोपाददानैश्च फलमप्यधि गम्यते।।"[24]

मीमांसक कारकों के भाव तथा उनके अन्तःसम्बन्ध को क्रियामूलक कहने के लिये 'करता है' के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। उनके मत में 'करता है' के अर्थ को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका अर्थ अप्रत्याख्येय होता है। इस आधार पर मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान–व्यापार (प्रमाण) अतीन्द्रिय होता है। जयन्त भट्ट के अनुसार कंपन या थरथराहट नामक भौतिक व्यापार ही 'करता है' का अर्थ है। प्रत्येक कारक के विलक्षण व्यापार का प्रत्यक्ष उपलब्ध होने से दिखाई देता हुआ कंपनात्मक भौतिक व्यापार को नकारा नहीं जा सकता है। अतएव जयन्त भट्ट कहते हैं कि व्यापार अतीन्द्रिय नहीं होता है और वह परोक्ष नहीं है। "यत्तु करोत्यर्थ स्याप्रत्याख्येयत्वा दित्युक्तम्, तत्रोच्यते – परिस्पन्द एव भौतिको व्यापारः करोत्यर्थः। न हि वयं परिस्पन्दात्मकं परिदृश्यमानं व्यापारमपह्नुमहे प्रतिकारकं विचित्रस्य ज्वलनादेर्व्यापारस्य प्रत्यक्षमुपलम्भात्, अतीन्द्रियस्तु व्यापारो नास्तीति ब्रूमहे।"[25]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाट्ट मीमांसक ज्ञातृ–व्यापार (प्रमाण) का परोक्षत्व सिद्ध करने के लिये कारक एवं कारकों के अन्तःस्म्बन्ध को क्रियामूलक मानते हैं तथा 'करता है' को कारक कहते हैं। उनके अनुसार 'करता है' के अर्थ का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है और उसी से कारकों का कारकत्व निर्धारित होता है। जयन्त भट्ट मीमांसक के मत के विरोध में अपनी युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं तथा मीमांसक उनकी युक्तियों के विरोध में धातु के अर्थ पर विचार करते हैं। धातु के अर्थ पर विचार करते हुए मीमांसक कहते हैं कि कारक का कारकत्व क्रियामूलक ही होता है। मीमांसक के अनुसार 'पच्' धातु का अर्थ पकाना होता है और 'पच्' धातु का यह अर्थ ज्वलनादिव्यापार से भिन्न होना चाहिये। भात ज्वलनादिव्यापार से भिन्न होता है। 'पच्' धातु के इस अर्थ को स्वीकार किये बिना फल की निष्पत्ति का अभाव होता है। फल की निष्पत्ति के अभाव के आधार पर मीमांसक 'पच्' धातु के अर्थ को ज्वलनादिव्यापार से भिन्न होने की इच्छा करते हैं। धातु का अर्थ ही कारकों के केन्द्र में अवस्थित होता है और धातु का अर्थ ही कारकों को आपस में सम्बद्ध करते हैं। धातु का अर्थ नहीं होने में समस्या उठती है कि किसके अधिकार से ये कारक आपस में सम्बद्ध होना चाहिये। अतएव कारकों को आपस में सम्बद्ध होने के लिये मीमांसक के अनुसार 'करता है' का अर्थ अप्रत्याख्येय होता है। जयन्त भट्ट मीमांसक के मत का निराकरण करने के लिये इन प्रश्नों पर विचार करते हैं कि धातु का वह एक अर्थ समुदित सभी कारकों का सम्पाद्य है वा एक–एक कारक का सम्पाद्य है ?दूसरे शब्दों में धातु के अर्थ को सभी कारक समुदित होकर सम्पादित करते हैं वा एक–एक कारक सम्पादित करता है। जयन्त भट्ट कारकों के समुदित रूप की तार्किक स्थिति को कारक–व्यक्ति की तार्किक स्थिति से भिन्न मानते हैं। आद्य पक्ष में एक–एक कारक अर्थात् सभी कारक–व्यक्ति अक्रिय होना चाहिये। इस आद्य पक्ष में यह समस्या है कि एक–एक कारक के निश्क्रियत्व में उनके साकल्य में क्रिया कैसे संभव होता है? एक–एक कारक के निष्क्रियत्व में उनके साकल्य में क्रिया नहीं होनी चाहिये। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि धातु का अर्थ सभी कारकों के साकल्य का सम्पाद्य है। दूसरे पक्ष में प्रत्येक कारक का पाकक्रिया में योग होने से उससे अन्य कारक निरपेक्ष हो जाते हैं और उन अन्य कारकों की उपादेयता समाप्त हो जाती है। इस पक्ष में एक ही कारक से फल की निष्पत्ति की समस्या उठ जाती है। और उस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार से कारकों का संसर्ग नहीं होता है। जयन्त भट्ट कहते हैं कि वे जो कारकों के आपसी संसर्ग को क्रियामूलक स्वीकार करते हैं उनके समक्ष दो ही विकल्प हैं। वे या तो यह स्वीकार करें कि क्रिया होने में कारको का सम्बन्ध होता है या यह स्वीकार करें कि कारकों का सम्बन्ध होने में क्रिया होती है। पहले विकल्प में क्रिया का पूर्व भाव होता है। इस विकल्प में कारकों का आपसी सम्बन्ध से पूर्व ही क्रिया सिद्ध होता है। कारकों का कार्य क्रिया की सिद्धि है और कारकों के आपसी सम्बन्ध से पूर्व ही क्रिया सिद्ध होती है तो कारकों के उस सम्बन्ध से क्या लाभ ? अतः क्रिया सिद्ध होनें में कारकों का आपसी सम्बन्ध स्थापित करना व्यर्थ है। इस विकल्प में एक–एक कारक से क्रिया के बल पर फल की सिद्धि सम्बन्ध के बिना हो जाती है। यदि यह विकल्प मानते हैं कि कारकों के मिलन से क्रिया की सिद्धि होती है तो एक–एक कारक अक्रिय हो जाता है अर्थात् कारक–व्यक्ति निष्क्रिय हो जाते हैं। इस स्थिति में काठ और बरतन के बिना भात पकाना चाहिये। यह कहा जा सकता है कि काठ जलते हैं पकाते नहीं हैं, इसीलिये बरतन अपेक्षित है। काठ का कार्य जलना होता है, पकाना नहीं। जयन्त भट्ट को यह कथन मान्य नहीं है। उनके अनुसार बरतन के होने में भी काठ का कार्य जलना ही होता है। वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष क्रिया के अतिरिक्त अन्य कोई क्रिया नहीं होती जिसके बल पर कारक आपस में सम्बद्ध हों। इसीलिये अन्य क्रिया का अभाव होने से फल को स्वीकार करके ही कारक आपस में सम्बद्ध होते हैं। कारकों का आपसी सम्बन्ध फलमूलक होता है, क्रियामूलक नहीं। कारकों के आपसी सम्बन्ध के केन्द्र में फल ही होता है। फल को क्रिया नहीं कहा जा सकता है क्योंकि फल के क्रियात्व की उपपत्ति नहीं होती है। भात फल है, क्रिया नहीं। जयन्त भट्ट कहते हैं कि वे उनसे विवाद नहीं करना चाहते हैं जो भात को क्रिया कहते हैं। जयन्त भट्ट मीमांसक और अपने मत को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं –"ननु पाको नाम धात्वर्थः परिदृश्यमान ज्वलनादिव्यापारव्यतिरिक्त एषितव्य एव, तमन्तरेण फलनिष्पत्तेर भावात्। असति च तस्मिन् किमधिकृत्य कारकाणि संसृज्येरन्नित्युक्तं, तदयुक्तम्। यं तमेकं धात्वर्थं साध्यं बुध्यसे स किं समुदितसकलकारकसम्पाद्य एकैककारकनिर्वर्त्यो वा। तत्राद्यपक्षे एकैकं भवेत्कारकमक्रियम्। एकैकनिष्क्रियत्वे च साकल्येऽपि कुतः क्रिया।। उत्तरस्मिन् पक्षे प्रत्येकमपि पाकक्रियायोगात् कारकान्तरनिरपेक्षादेकस्मात्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारकात् फलनिश्पत्तिप्रसंगः। न च तथाविधधात्वर्थपुरः सरः कारकाणां संसर्गः। क्रियानिमित्तसंसर्गवादिनो हि द्वयी गतिः। सत्यां क्रियायां सम्बन्धः, समबन्धे सति वा क्रिया।। मिलनात् पूर्वसिद्धायां क्रियायां मीलनेन किम्। तथा च जन्येत फलं विभक्तैरपि कारकैः।। मीलनात्तु क्रियासिद्धौ पुनरेकैकमक्रियम्। तथा सति न काष्ठानि ज्वलेयुः पिठराद्विना।। काष्ठानि ज्वलन्ति न तु पचन्ति, मैवम्, सत्यपि पिठरे ज्वलन्त्येव काश्ठानि नान्यत् कुर्वन्ति दृश्यन्ते। तस्मात् क्रियान्तराभावात् फलमेवोररीकृत्य कारकाणि संसृजयन्ते।"[26] इसप्रकार जयन्त भट्ट कहते हैं कि चलनशील कारक से फल उत्पन्न होता है। चलन से अन्य अप्रत्यक्ष व्यापार कारक में उपलब्ध नहीं है।

ये मीमांसक ज्ञाता के व्यापार को ज्ञान कहते हैं और उनके अनुसार ज्ञान अर्थ की दृष्टता नामक फल से भिन्न होता है। ज्ञान क्रियात्मक होता है और वह अर्थदृष्टता नामक फल से अनुमित किया जाता है। ज्ञाता के व्यापार के बिना फल की निष्पत्ति नहीं होने से ज्ञातृव्यापार फल का अनुमेय होता है। मीमांसा के पक्ष में अर्थदृष्टता नामक प्रत्यय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव जयन्त भट्ट मीमांसक को प्रश्न करते हैं कि इस अर्थदृष्टता नामक प्रत्यय का क्या अभिप्राय है ? क्या यह अर्थदृष्टता दर्शन क्रिया का कर्म होने से दर्शनकर्मता है वा यह अर्थदृष्टता अर्थ की प्रकाशस्वभावता है ?यह स्पष्ट है कि विशेषण का ग्रहण नहीं होने में विशिष्ट को ग्रहण नहीं किया जा सकता है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार दर्शन–क्रिया परोक्ष होता है और उसके परोक्षत्व के फलस्वरूप अर्थ का दृष्टत्व नामक दर्शन–क्रिया की कर्मता का ग्रहण नहीं होता है। दूसरे विकल्प पर विचार करते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि अर्थदृष्टता को अंर्थ की प्रकाशस्वभावता मानते हैं तो अर्थ की प्रकाशता सभी के लिये समान होता है। फलतः इस विकल्प के अनुसार सभी को सर्वज्ञ होना चाहिये। इस आपत्ति का निराकरण करते हुए मीमांसक कह सकते हैं कि अर्थ की प्रकाशस्वभावता जो उससे सम्बन्ध रखते हैं उन सम्बन्धितों को ही उत्पन्न करना है। इस युक्ति से अर्थ की प्रकाशता सम्बन्धित को ही उपलब्ध होने से सभी सर्वज्ञ नहीं कहे जा सकते हैं। जयन्त भट्ट के अनुसार मीमांसक का यह कथन अकारण है। इसके पीछे कोई युक्ति नहीं है कि अर्थ की प्रकाशस्वभावता सम्बन्धित को ही उत्पादित करना है अन्य को नहीं। जयन्त भट्ट कहते हैं कि दीपादि की प्रकाशस्वभावता व्यक्ति–विशेष के लिये नहीं होता है, वह सभी के लिये समान होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दीपादि के तुल्य अर्थ की प्रकाशस्वभावता भी व्यक्ति–विशेष के लिये नहीं होना चाहिये अपितु सभी के लिये समान होना चाहिये। यह कहना अकारण है कि अर्थ की प्रकाशता सम्बन्धित को ही उत्पन्न होता है। अतएव दूसरे विकल्प में भी सभी के सर्वज्ञ होने की आपत्ति उठ जाती है। जयन्त भट्ट इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाट्ट मीमांसकों की अर्थदृष्टता नामक प्रत्यय समीचीन नहीं है और इस आधार पर ज्ञातृव्यापार नामक प्रत्यय का अनुमान संभव नहीं है। जयन्त भट्ट के शब्दों में– "का चेयमर्थदृष्टता नाम, किं दर्शनकर्मता किं वा प्रकाशस्वभावतेति। तत्र दर्शनस्य परोक्षत्वात् कथं तत्कर्मताऽर्थस्य दृष्टत्वाद् गृह्यते, विशेषणाग्रहणे विशिष्टप्रतीतेरनुत्पादात्। अर्थप्रकाशतायास्तु सर्वान् प्रत्यविशेषात् सर्वे सर्वज्ञाः स्युः। न स्युः सम्बन्धितयोत्पादादिति चेत्, अकारणमेतत्। अर्थस्यैव हि प्रकाशत्वमतिशयो दीपादेरिव न पुरुषनियमेन व्यवतिष्ठते।"[27]

जयन्त भट्ट भाट्ट मीमांसक द्वारा स्थापित अनधिगतार्थग्राहित्व नामक प्रमाण के लक्षण का खंडन करते हैं। ये मीमांसक अनधिगतार्थ ग्राहित्व को प्रमाण का विशेषण मानते हैं और जयन्त भट्ट के अनुसार उसे प्रमाण का विशेषण कहना उचित नहीं है। जयन्त भट्ट का कहना है कि प्रमाण गृहीत और गृहीत से इतर विषय को ग्रहण करता है। अनधि गतार्थग्राहित्व को प्रमाण का विशेषण मानने से प्रमाण गृहीत और गृहीत से इतर को ग्रहण नहीं कर सकता है। प्रमाणत्व में इन दोनों विशेषणों का अभाव हो जाने से अनधिगतार्थग्राहित्व को प्रमाण का विशेषण कहना उचित नहीं है। "यदपि प्रमाणविशेषण मनधिगतार्थग्राहित्वमभिधीयते परैस्तदपि न साम्प्रतम्। प्रमाणस्य गृहीततदितरविशयप्रवृत्तस्य प्रामाण्ये विशेषाभावात्।"[28]

मीमांसक प्रश्न करते हैं कि गृहीत विषय में प्रमाण क्या करता है ? प्रमाण से हम विषय का ग्रहण करते हैं और विषय का ग्रहण हो चुका है तो प्रमाण का कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है। मीमांसकों के अनुसार प्रमाण गृहीत विषय का ग्रहण नहीं करता है। यह कहा जा सकता है कि प्रमाण से हम प्रमा करते हैं और प्रमा के लिये हमें प्रमाण का ग्रहण करना चाहिये। मीमांसक इस कथन का विरोध करते हैं और कहते हैं कि जो कार्य किया जा चुका है वहाँ करण का योग नहीं होने से प्रमाण गृहीत विषय का ग्रहण नहीं करता है। इस युक्ति का उत्तर देते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि यहाँ प्रमाण अन्य प्रमा का करण होने से ग्रहण किया जाता है। जयन्त भट्ट से प्रश्न किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाता है कि प्रमाण को अन्य प्रमा का करण मानने में हमें क्या फल प्राप्त होता है ? जयन्त भट्ट का उत्तर है कि दूसरी प्रमा का करण होना ही फल है। और न मीमांसक यह कह सकते हैं कि जो फल हमें प्राप्त हो चुका है उस प्राप्त फल का पुनः हमें तलाश नहीं करना चाहिये। प्रमाण से जिस विषय की प्रमा की प्राप्ति हो चुकी है उस विषय की प्रमा हम पुनः प्रमाण से प्राप्त कर सकते हैं। प्रमाण प्रयोजन का अनुवर्ती होता है। मीमांसक पीष्टपेषण का आरोप किस पर लगाते हैं ? यह आरोप प्रमाण पर नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि प्रमाण अचेतन होता है। यह आरोप प्रमाता पर भी नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि विषय को सन्निहित होने में और करण होने में एक विषयक अनेक ज्ञान होता ही है। इस प्रकार जयन्त भट्ट मीमांसक के अनधिगतार्थग्राहित्व नामक प्रमाण का विशेषण को खंडित करते हैं। "ननु गृहीतविषये प्रवृत्तं प्रमाणं किं कुर्यात् ?प्रमामिति चेद् गृह्येतापि तामेव विधातुम्। कृतायाः करणायोगादिति चेन्न प्रमान्तरकरणात्। प्रमान्तरकरणे किं फलमिति चेत् प्रमान्तरकरणमेव फलम्। न च फलस्य फलं मृग्यम्। न च प्रयोजनानुवर्ति प्रमाणं भवति। कस्य चैष पर्यनुयोगः, न प्रमाणस्याचेतनत्वात्। पुसंस्तु सन्निहिते विशये करणे च सम्भवन्ति ज्ञानानीति सोऽपि किमनुयोज्यताम्।"[29]

अनधिगतार्थग्राहित्व को प्रमाण का लक्षण स्वीकार करने से प्रत्यभिज्ञान को त्याग देना चाहिये क्योंकि प्रमाण का यह लक्षण स्वीकार करने से 'इदन्ता' का ज्ञान तो होता है परन्तु 'तत्ता' का ज्ञान नहीं होता है। यहाँ यह कहना चाहिये कि 'तत्ता' और 'इदन्ता' दोनों को अवगाहन करने वाली प्रतीति प्रत्यभिज्ञा कहलाती है। इसमें पूर्व देश और काल तथा वर्तमान देश और काल दोनों की प्रतीति होती है। इसी हेतु से जयन्त भट्ट कहते हैं कि अनधिगतार्थग्राहित्व को प्रमाण का लक्षण मानने से प्रत्यभिज्ञा को हमें तिलांजलि दे देना चाहिये। "यदि चानुपलब्धार्थग्राहि मानमुपेयते। तदयं प्रत्यभिज्ञायाः स्पष्ट एव जलांजलिः।।"[30] मीमांसक कहते हैं कि अनधिगतार्थग्राहित्व को परित्याग कर देने में स्मृति का प्रामाण्य होना चाहिये। अतएव जयन्त भट्ट के लिये स्मृति का अप्रामाण्य सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है।

मीमांसक कहते हैं कि अनधिगतार्थग्राहित्व नामक प्रमाण के लक्षण के परित्याग में जयन्त भट्ट को स्मृति का प्रामाण्य भी स्वीकार होना चाहिये।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मीमांसक के अनुसार स्मृति में हम जिसे ग्रहण कर चुके होते हैं उसी को ग्रहण करते हैं। स्मृति की गृहीतग्राहिता होती है। गृहीत को ग्रहण करने से ही स्मृति उत्पन्न होती है। अनधिगतार्थग्रहित्व को प्रमाण का लक्षण नहीं मानने में स्मृति का प्रामाण्य जयन्त भट्ट को स्वीकार करना चाहिये। अनधिगतार्थग्रहित्व को प्रमाण का लक्षण मानने में प्रमाण गृहीत का ग्रहण नहीं करता है और इस प्रकार स्मृति के प्रामाण्य का निवारण होता है। अतएव जयन्त भट्ट स्मृति के अप्रामाण्य के कारण का अनुसंधान करते हैं तथा कहते हैं कि स्मृति का अप्रमाणत्व गृहीत के ग्रहण करने से नहीं अपितु उसके अनर्थजन्यत्व से होती है। स्मृति का अनर्थजन्यत्व उसके अप्रामाण्य का कारण है। स्मृति अर्थजन्य नहीं बल्कि अनर्थजन्य होती है। स्मृति में अर्थ नहीं होता है। अतएव प्रश्न उठता है कि स्मृति कैसे अनर्थज है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि स्मृति में हम जिस वस्तु का स्मरण करते हैं उस वस्तु का उस समय वहाँ भाव नहीं होता है। वह वस्तु वहाँ नहीं होती है, फलतः स्मृति अनर्थज होती है। वस्तु को उस समय में नहीं होने से स्मृति अनर्थज है तो भूतकाल में हुए वर्षा का अनुमान भी अनर्थज हो जाता है। अतः इस प्रकारक अनुमान से प्राप्त ज्ञान भी प्रामाण्य नहीं है। इस समस्या का निराकरण करते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि वहाँ धर्मी अनुमेय है और वह अनुमेय भूतकाल में हुए वृष्टि के अनुमान के ज्ञान का जनक होता है। धर्मी के अनुमेयत्व और उस अनुमेयत्व को होने के आधार पर भूतकाल में हुए वृष्टि का अनुमान अनर्थज नहीं है। धर्मी अनुमिति का विषय है और वह वहाँ होता है, फलतः यह अनुमान अनर्थज नहीं है। नदी के ऊपर पर्वत पर बारिस होने से नदी उस विशिष्ट जल से पूर्ण हो जाती है। ऊपर में स्थित वृष्टिमान् पर्वत के साथ नदी का संसर्ग नामक लक्षण नदी नामक धर्मी का धर्म है। धर्मी के उस धर्म के कारण धर्मी को वर्षा के पानी से पूर्ण होने के आधार पर वृष्टिवान् नदी नामक धर्मी का अनुमान करते हैं। अनुमान से ग्राह्य वह धर्मी वहाँ वर्तमान होता है। अतएव यह अनुमान अनर्थज नहीं है। इस प्रकार जयन्त भट्ट भूत वृश्टि के अनुमान को अर्थज कहते हैं और उसका प्रामाण्य स्थापित करते हैं। उनके लिये अनागतार्थ को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष को अर्थज सिद्ध करना भी अनिवार्य है। वे कहते हैं कि 'कल मेरा भाई आयेगा' नामक अनागत विषयक ज्ञान अर्थज होता है। उनके अनुसार अन्य देश में विद्यमान भ्राता का आगमन कथनानुसार होता है। भ्राता के आगमन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai